प्रकाशक
विद्यामंदिर, प्रकाशक और विक्रेता
चौक, लखनऊ

प्रथम संस्करण

मूल्य एक रुपया

मुद्रक
विपिनविहारी कपूर
नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.

# निवेदन

हिंदी में ऐसी छोटी-छोटी परिचयात्मक पुस्तकों की कमी है जिनमें महत्त्वपूर्ण कला-कृतियों की आलोचनात्मक व्याख्या इतने सरल और रोचक ढंग से की गई हो कि उसे पढ़कर साहित्य के विद्यार्थियों में उच्चकोटि के ग्रंथों का अध्ययन करने की प्रवृत्ति जागरित हो, उनकी दृष्टि पैनी और जिज्ञासा बलवती हो। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने उक्त आवश्यकताओं का स्वयं अनुभव करके हाथ लगाया था। इसलिए आशा की जा सकती है कि विद्यार्थियों का आलोचनात्मक ज्ञान बढ़ाने में यह उपयोगी सिद्ध होगी और आलोच्य पुस्तक के अतिरिक्त 'प्रसाद'जी की अन्य रचनाओं का अध्ययन करने को वे प्रवृत्त होंगे।

प्रेमनारायण टंडन

---

# विषय-सूची

# नाटककार 'प्रसाद'

प्रसादजी का जन्म सन् १८८६ में सराय गोवर्द्धन-नामक काशी के मुहल्ले में एक प्रतिष्ठित व्यापारी-कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम बाबू देवीप्रसाद था। बनारस में वे सुँघनी साहु के नाम से विख्यात थे। इनके यहाँ अनेक कवियों और साहित्य-सेवियों का नित्य सम्मेलन होता था। इस साहित्यिक वातावरण का प्रसादजी की रुचि पर स्वाभाविक प्रभाव पड़ा। बाल्यकाल में इनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर हुई। इसके पश्चात् ये बनारस के क्वींस कालेज में भरती कराए गए। पर यह क्रम निभ न सका। कुछ वर्ष बाद पिता की मृत्यु हो जाने के कारण इन्हें ११ वर्ष की अवस्था में ही स्कूल छोड़कर अपना व्यवसाय देखना पड़ा। हाँ, स्कूल जाने से इतना लाभ अवश्य हुआ कि अध्ययन के प्रति इनकी रुचि हो गई। अब इन्होंने घर पर अधिक नियमित रूप से पढ़ना-लिखना शुरू किया। शीघ्र ही ये संस्कृत, उर्दू और हिंदी पढ़ गए; अँगरेजी का भी सामान्य ज्ञान इन्हें हो गया। संस्कृत से इन्हें विशेष प्रेम था और भारतीय संस्कृति के ये बड़े पक्षपाती थे। इसी से, अपने जीवन के अंतिम वर्षों तक, प्राचीन संस्कृति और साहित्य का आप अध्ययन करते रहे। बँगला भी आपने सीखी थी। हिंदी से तो आपका स्वाभाविक स्नेह था ही। फलस्वरूप अपने व्यापार की थोड़ी-बहुत देखभाल करते हुए आप हिंदी-साहित्य की अमूल्य सेवा में संलग्न रहे।

सन् १६०६ ई० में जब प्रसादजी की अवस्था १७ वर्ष की ही थी, इनको एक दूसरी विपत्ति का सामना करना पड़ा। इनके अकेले बड़े भाई, जो अब तक व्यवसाय देखा करते थे, अकाल में ही स्वर्गवासी हुए। प्रसादजी के अध्ययन में इससे बाधा तो पहुँची ही, साथ साथ एक बड़े परिवार के लालन-पालन और इधर-उधर बिखरे हुए व्यवसाय का भार भी इन पर आ पड़ा। परंतु बड़े धैर्य से इन्होंने इस विपत्ति का सामना किया। बहुत शीघ्र ही उन्होंने अपने घर का काम-काज तो सम्हाल ही लिया, स्वाध्याय तथा साहित्य-सेवा में भी कोई कमी नहीं आने दी।

बहुमुखी प्रतिभा के कारण हिंदी के प्रायः सभी विद्यार्थी प्रसादजी से परिचित हैं। मौलिकता उनकी रचनाओं की प्रधान विशेषता है। उनके प्रादुर्भाव के समय, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि हिंदी-साहित्य की थोड़ी-बहुत वृद्धि तो अवश्य होने लगी थी; परंतु उसमें मौलिकता नहीं थी; वह साहित्य हिंदी का नहीं था और न हिंदीवाले उस पर गर्व ही कर सकते थे। उस समय हिंदी में मौलिक रचनाओं की बड़ी आवश्यकता थी। प्रसादजी ने यह कार्य बड़ी सफलता से संपन्न किया। उन्होंने मुख्यतः हिंदी-साहित्य के दो प्रधान अंगों—नाटक और कविता—में मौलिकता का समावेश किया। उनका विषय नया था, शैली नई थी और उनका रचनादर्श भी नयापन लिए था। प्रसादजी की हिंदी-साहित्य-सेवा का सबसे अधिक महत्त्व इसी कारण है।

उनकी दूसरी विशेषता है अपनी कृतियों में एक नवीनता—कथानक में एक विशेष प्रकार का हृदयाकर्षक चमत्कार पैदा

कर देना। पाठक को यह नवीनता प्रभावित करके इस तरह आकर्षित करती है कि वह चमत्कृत होकर तो रह जाता है, परंतु उसका कारण नहीं समझ पाता। इस चमत्कार-प्रदर्शन की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसके मूल में वास्तविकता ही रहती है, जो क्रमशः चमत्कार की पुट पाकर मार्मिक और प्रभावोत्पादक बन जाती है। प्रसादजी के नाटकों में नायकों के चरित्र का बड़े ध्यान से और कविताओं की सुकुमार भावनाओं का सहृदयतापूर्वक अध्ययन करने पर यह बात हमारी समझ में आ जायगी।

उनके महत्त्व का तीसरा कारण है उनका हिंदी-नाट्य साहित्य के रिक्त भंडार को भरना। हिंदी में, उनके पहले, उल्लेखनीय मौलिक नाटक एक-ही-दो लिखे गए थे और उनकी शैली, चरित्र-चित्रण आदि में भी कोई नवीनता नहीं थी। भारतेंदु के पश्चात् से साहित्य-सेवियों ने जैसे इस ओर से आँख ही मूँद ली थी। प्रसादजी ने इस कमी को बड़ी कुशलता से पूरा किया और कई सुंदर-सुंदर नाटक लिखे। 'सज्जन', 'विशाख', 'प्रायश्चित्त', 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'कामना', 'ध्रुवस्वामिनी', 'एक घूँट' और 'इंद्रनायिका' (अपूर्ण)—येही इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इनमें से 'एकघूँट' और 'कामना'—प्रथम सामाजिक नाटक है और दूसरा लाक्षणिक—को छोड़कर प्रायः सभी मुख्य नाटकों के कथानक, भारत के प्राचीन इतिहास, हिंदूकाल से चुने गए हैं। इनसे हमें प्रसाद जी के प्राचीन साहित्य के अध्ययन, प्राचीन संस्कृति से प्रेम, प्राचीन इतिहास के अन्वेषण का पता लगता है।

नाटकों के पश्चात् साहित्य में उनके काव्य-ग्रंथों का आदर

है, तथा प्रचार और अनुकरण भी इनका हिंदी में नाटकों से कुछ अधिक ही हुआ है। प्रसादजी आधुनिक रहस्यवादी कविता की नवीनधारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। कविता की ओर उनकी रुचि बाल्यकाल से ही हो गई थी। सन् १९०० में ११ वर्ष की ही अवस्था में उन्हें अपनी माता की कृपा से अमरकंटक, धाराक्षेत्र, उज्जैन, जयपुर, व्रज, अयोध्या आदि अनेक स्थानों की यात्रा करने का शुभ अवसर मिला था। इन स्थानों के प्राकृतिक सौंदर्य ने उन्हें और भी गंभीर प्रकृति-प्रेमी बनाकर उनकी काव्य-रुचि को जागरित किया। लगभग १५ वर्ष की अवस्था से वे समस्यापूर्ति करने लगे थे। सन् १९०५ के लगभग इन्होंने 'प्रेमपथिक' नामक काव्य व्रज-भाषा में लिखा था। ६-७ वर्ष बाद उन्होंने इसे खड़ीबोली के अनुसार काव्य का रूप दे दिया। 'महाराणा का महत्त्व', 'दो कथाएँ' आदि कुछ और भी रचनाएँ उनकी इसी तरह की हैं। उस समय इनका स्वागत नहीं हुआ। प्रसादजी ने इसी कारण इन्हें छोड़ दिया। फिर भी द्विवेदी-काल के "सरस्वती" के कवियों के ढंग पर कविता न करके उन्होंने प्रधानतः यौवन और प्रेम-विषयक बड़ी सुंदर भावात्मक कविताओं की रचना की। आगे चलकर वे व्यंजना-प्रधान छायावादी कविता करने लगे। इनमें से अधिकांश में हृदय की अंततम भावनाओं और वेदनाओं की व्यंजना की गई है। विश्व-विद्यालय के नवयुवक विद्यार्थियों को ऐसी रचनाएँ विशेष प्रिय हैं। 'आँसू' ( सन् १९२५ ) इस प्रकार की पहली कृति है, जिसका पर्याप्त प्रचार और अनुकरण हुआ है। इनकी फुटकर कविताओं के तीन संग्रह—'काननकुसुम' (सन् १९१८ ) 'झरना' और 'लहर' हैं। इनकी अंतिम

रचना 'कामायनी' नामक प्रबंध काव्य है। प्रसादजी की कीर्ति इसके प्रकाशन के पश्चात् से बहुत हो गई है। रहस्य-वादी कवियों में अब तो उनकी तुलना विश्व-विख्यात स्वर्गीय कवींद्र रवींद्र से की जाने लगी है।

प्रसादजी की कहानियाँ भी अपनी विशेषता लिए हुए हैं। उनकी कहानियों का कथानक कविताओं की तरह ही, सामाजिक या राजनीतिक नहीं है, प्रत्युत उन्होंने जीवन की एक समस्या, मानसिक वृत्ति-संबंधी एक प्रश्न अथवा हृदय के आंतरिक भावों को लेकर लगभग ७० अंतर्द्वंद्व प्रधान कहानियाँ लिखी हैं। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इंद्रजाल'—इनके पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'कंकाल' और 'तितली' नामक दो उपन्यास भी इन्होंने लिखे हैं, जिनमें आधुनिक भारत की वह झलक मिलती है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रेमी को अधिक रुचिकर नहीं हो सकती। सामाजिक होते हुए भी ये उपन्यास उनकी कहानियों की तरह भाव-प्रधान ही हैं।

प्रसादजी ने कविता, कला, छायावाद आदि से संबंधित विषयों पर निबंध भी लिखे हैं। इनसे हमें उनके तत्संबंधी विचारों और आदर्शों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। ये निबंध उनकी गवेषणात्मक शैली में लिखे गए हैं।

अंतिम विशेषता है प्रसादजी की साहित्यिक शैली, जिसके कारण उनकी प्रायः सभी गद्य-रचनाएँ—निबंधों को छोड़ कर—गद्य-काव्य का-सा आनंद देती हैं। द्विवेदीजी के सरल भाषा-प्रचार-संबंधी आंदोलन के बहुत तीव्र होने पर भी वे भाषा के साहित्यिक रूप को ही अपनाए रहे। "राष्ट्रभाषा हिंदी हो" जोर-शोर से बिना समझे-बूझे यह चिल्लानेवालों

के फेर में पड़कर उन्होंने अपनी भाषा नहीं बिगाड़ी। आज उनकी भाषा का साहित्यिक रूप भी उनके महत्त्व का कारण समझा जाने लगा है।

## प्रसादजी के ग्रंथ

प्रसादजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। नाटकों के लिए तो वे प्रसिद्ध हैं ही; साथ ही उन्होंने कहानी, उपन्यास और काव्यों की रचना भी की है। कुछ निबंध भी उन्होंने लिखे हैं, यद्यपि उनके कारण उनका विशेष मान नहीं है। आपकी प्रसिद्धि तो प्रधानतः इन ग्रंथों के कारण है—

(क) नाटक—'सज्जन', 'अजातशत्रु', 'चंद्रगुप्त', 'स्कंद-गुप्त', 'राज्यश्री', 'विशाख', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'ध्रुव-स्वामिनी', 'एक घूँट'।

'सज्जन' और 'विशाख' बहुत पहले लिखे गए थे। इनमें कोई विशेषता नहीं है। अन्य अधिकांश नाटक—जैसा नाम से ही स्पष्ट है—ऐतिहासिक हैं, जो हमें हिंदू-शासकों के स्वर्णकाल, मौर्य और गुप्त सम्राटों के समय की भारतीय संस्कृति का चित्र दिखलाते हैं। इन नाटकों में प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्य शैलियों का सुंदर सम्मिश्रण मिलता है, पात्रों का चरित्र चित्रण भी प्रसादजी ने सुंदर ढंग से किया है।

(ख) काव्य—'करुणालय', 'प्रेमपथिक'—१९१३, 'काननकुसुम'—१९१८, 'झरना', 'लहर', 'कामायनी', 'आँसू'।

पहली पुस्तक अतुकांत गीतिनाट्य है और दूसरी अतुकांत प्रेम-काव्य। ये दोनों प्रसादपूर्ण और सरल हैं। इस समय वे ब्रजभाषा में लिखा करते थे, परंतु बाद में, संभवतः द्विवेदीजी

के आंदोलन से प्रभावित होकर, उन्होंने खड़ीबोली को अपना लिया। इनकी रचनाओं का मुख्य विषय प्रेम है, जो वासना-प्रधान होने पर भी 'लोकोत्तर-प्रेमालंबन की ओर उन्मुख होने लगता है।' इनकी भावात्मक कविताएँ बड़ी सुंदर हैं।

(ग) कहानी-संग्रह—'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'नवपल्लव', 'आँधी', 'आकाशदीप'।

'ग्राम' प्रसादजी की पहली मौलिक कहानी है, जो सन् १९११ में 'इंदु' (काशी) में प्रकाशित हुई थी और 'छाया' उनकी प्रारंभिक कहानियों का पहला संग्रह। उनकी कहानियों का कथानक भी, कविताओं की तरह ही, सामाजिक या राजनीतिक नहीं है, वरन् उनमें "एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र अथवा घटना की एक रेखा', प्रेम की एक झलक, निष्ठुरता की ओर एक संकेत मात्र रहता है। 'आकाशदीप', 'बिसाती', 'देवदासी', 'चूड़ीवाली', 'प्रतिध्वनि' आदि उनकी प्रथम श्रेणी की कहानियाँ हैं।

(घ) उपन्यास—'कंकाल' और 'तितली'।

यद्यपि प्रसादजी ने केवल ये दो ही उपन्यास लिखे हैं तथापि उपन्यास-लेखकों में उनका नाम आदर से लिया जाता है। सामाजिक होते हुए भी ये उनकी कहानियों की तरह ही भावप्रधान हैं।

प्रसादजी ने गद्य में नाटक, उपन्यास और कहानियाँ लिखी हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य जनसाधारण की दृष्टि में मनोरंजन करना ही होता है। परंतु, जान पड़ता है, ये रचनाएँ केवल मनोरंजन और विनोद की दृष्टि से न लिखी जाकर, अध्ययन के लिए लिखी गई थीं। उनके ऐतिहासिक नाटकों

में संघर्ष के चित्रों के साथ साथ, गवेषणात्मक और भावात्मक स्थल भी हैं। इसका कारण यह है कि अपने नाटकों के लिए प्रसादजी ने भारतीय इतिहास का वह युग चुना है, जो गंभीर और उनके प्रादुर्भाव के समय तक कुछ अनिश्चित-सा था। इसके अतिरिक्त नाटकों में घात प्रतिघात तथा अंतर्द्वंद्व के लिए विस्तृत क्षेत्र भी उन्हें मिल जाता है। यदि उनके नाटक घटना-प्रधान होते तो अतर्द्वंद्व-संबंधी दुरूहता, जो साहित्यिक दृष्टि से नाटकों की प्रधान विशेषता है, उनकी शैली पर विशेष प्रभाव न डालती, परतु ऐसे द्वंद्व की प्रधानता होने के कारण ही शैली गूढ़ और गंभीर हो गई है।

यह तो हुई साधारण विषय संबंधी बात। लेखक की शैली पर उसकी रुचि विशेष का प्रभाव भी पड़ता है। अन्य लेखकों की अपेक्षा प्रसादजी के लिए यह बात अधिक सत्य है। उनकी शैली पर उनके गहरे दार्शनिक विचारों—जैसे नियतिवाद, आध्यात्मिक विवेचना आदि का—प्रभाव तो एक ओर पड़ा है, जिससे शैली में गूढ़ता तथा गंभीरता प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है, और दूसरी ओर, उनके कवि हृदय की सहज भावुकता की पुट दिखाई देती है, जिससे अंतर्द्वंद्व में विशेष चमत्कार आ जाता है। ये बातें कहानियों और उपन्यासों के लिए भी प्राय सत्य ही है। इन्हें जान लेने पर हम प्रसादजी की भाषा शैली को भली-भाँति समझ सकेंगे।

## प्रसादजी की शैली

प्रसादजी पहले कवि है पीछे और कुछ। यही कारण है कि उनकी समस्त कृतियों में काव्यात्मक चमत्कार वर्तमान

है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए बड़ी सुंदर उक्तियों का संग्रह करते वे दिखाई देते हैं। ऐसा करने से वर्णन में एक विशेष प्रकार की रोचकता आ जाती है। उदाहरण के लिए यह अवतरण देखिए—

प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े, विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने-वाली स्त्री के प्रति हतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी वीभत्स और प्रलय की अनलशिखा से भी लहरदार होती है।

यह चमत्कार प्रसादजी की रचनाओं में प्रायः सर्वत्र मिलता है; छोटी-छोटी कहानियों में भी एक-आध स्थल पर ऐसे वाक्य देखने को मिलते हैं, फिर नाटकों का तो कहना ही क्या। वास्तव में जहाँ लेखक स्वयं ही पाठकों का दुख-सुख अपना लेता है वहीं अपनी भावुकता से ऐसी उक्तियाँ सोच सकता है। इन उक्तियों में साम्य और चमत्कार तो होता ही है, साथ ही, एक प्रवाह भी रहता है। इसका संबंध पात्र के हृदय में उत्पन्न दुख, क्षोभ, ग्लानि, हर्ष आदि मनोभावों की मात्रा के अनुरूप होता है। ज्यों-ज्यों अंतस्थल की सूक्ष्म भावनाएँ आवेश, क्रोध आदि में परिणत होती जाती हैं त्यों-त्यों प्रसादजी कुशलतापूर्वक उनका चित्र खींचते चलते हैं। ऐसे स्थलों पर भाव-प्रकाशन-शैली बहुत ही स्वाभाविक है; वाक्य छोटे-छोटे हैं, भाषा में सहज प्रवाह भी है। प्रायः अंतर्द्वंद्व-प्रधान नाटकों में ऐसे स्थल बहुत अधिक रहते हैं, अतः भावात्मक शैली के उदाहरण भी बहुत मिलते हैं। दो-एक नमूने देखकर यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(१) माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं मंनसा के हाथों का विपाक्त अस्त्र बनूँ। उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का तांडव किए बिना मैं जी न सकूँगा। मैं आत्मघात कर लूँगा।

(२) सेनापति! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिंता नहीं, एक बार इन दस्युओं को बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना भी जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसें, सारी गजसेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथी हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें; परंतु एक पग भी हटना पर्वतेश्वर के लिए असंभव है। धर्म-युद्ध में प्राण-भिक्षा माँगनेवाले भिखारी हम नहीं। जाओ, उन भगोड़ों से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने को कहो। कहो कि मरने का क्षण एक ही है, जाओ।

ऊपर की पंक्तियों का भावावेश स्पष्ट ही है। दूसरे अवतरण में रणभूमि में मर मिटने को ही जीवन का उद्देश्य समझनेवाले भारतीय वीर के वीरतापूर्ण भावोद्गारों का बड़ा सुंदर और स्वाभाविक वर्णन किया गया है। भाषा का धारावाहिक रूप और छोटे-छोटे वाक्य, इस शैली की विशेषताएँ हैं। निम्नलिखित अवतरण में भी वाक्यों की गठन और धारा का सुंदर प्रवाह देखते ही बनता है—

(आप ही आप) बुलाओ, बुलाओ, उस वसंत को, उस जंगली वसंत को, जो महलों में मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय

की धूलि में मकरंद सींचता है। उसे अपने हृदय में बुलाओ जो पतझड कर नई कोपल लाता है, जो हमारे। कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रांत जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल की तरह सस्नेह रुक-रुक कर आवाहन करता है, जिसमें विश्व भर के सम्मिलन का उल्लास स्वत उत्पन्न होता है। एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है। उस वसंत को, उस गई हुई निधि को लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकास हों, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेलें। विश्वमात्र एक कुसुम-स्तवक के सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनंद का रसीला राग विस्मृति को भुला दे, सबमें समता की ध्वनि गूँज उठे। विश्व भर का क्रदन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय। आम के बौरों में से मकरंद-मदिरा पान करके आया हुआ पवन सबके तप्त अंगों को शीतल करे।

एक स्थान पर कहा जा चुका है कि लेखक की रुचि का उसकी शैली पर बडा प्रभाव पडता है। प्रसादजी के विषय में भी यह बात पूर्ण सत्य है। दार्शनिक, आध्यात्मिक आदि विषयों से उन्हें रुचि थी। अतः उनकी शैली प्रधानत इन विषयों के अनुकूल हुई है। इसी प्रकार प्रसादजी के नाटकों में हम देश प्रेम की पवित्र भावना अधिक देखते हैं। इसका एक कारण उस समय की ऐतिहासिक परिस्थिति है, जिस समय के कथानकों को उन्होंने अपनाया था। भारत पर तब विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे। ये आक्रमणकारी भारतीय प्रजा पर अमानुषीय अत्याचार करते थे। अन देश प्रेमियों की सृष्टि करना नाटककार के लिए स्वाभाविक ही था। दूसरी बात यह है कि ऐसे देशोद्धारक या समाज-सुधारक

प्रायः कर्मवीर होते हैं, और कर्म की महत्ता का प्रचार भी करते हैं। यही बात कमला के इन शब्दों से स्पष्ट होती है—

कौन कहता है तुम अकेले हो ! समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत् करो ! यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन समीप ही है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है। उठो, स्कंद ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो ; सोनेवालों को जगाओ और रोनेवालों को हँसाओ ! आर्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य-पताका के नीचे समग्र विश्व होगा। उठो वीर।।

—'स्कंदगुप्त' से

इस अवतरण में हमें उनकी ओजपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं जिसमें बड़ा सुंदर प्रवाह है और वाक्य भी छोटे-छोटे है। परिस्थिति के अनुकूल ऐसी शैली बना लेना वास्तव में, लेखक की कुशलता का द्योतक है।

उनकी शैली की दूसरी विशेषता के संबंध में एक आलोचक का कथन है, 'वे प्रकृति के रमणीय उपादानों से अपरिवेष्टित मनुष्यता की ओर दृष्टि भी नहीं डालते। उनकी सृष्टि के नर-नारी प्रकृति से लिपटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं और प्रकृति की उन स्थितियों का वर्णन भी ऐसा सार्थक होता है

कि यदि वह शीतल पवन के झोंके का वर्णन करेंगे तो उनकी समर्थ पदावली हमें उस पवन का स्पर्श भी करने में सहायता देंगी। शब्दों के द्वारा परिस्थितियों की विशेषता उत्पन्न करने की इतनी अपूर्व क्षमता कम लेखकों में होती है।' इन विशेषताओं को इस उद्धरण में कुछ-कुछ देखा जा सकता है:—

साधुओं का भजन-कोलाहल शांत हो गया था। निस्तब्धता रजनी के मधुर क्रोड़ में जाग रही थी। निशीथ के नक्षत्र, गंगा के मुकुर में अपना प्रतिबिंब देख रहे थे। शीतल पवन का झोंका सबको आलिंगन करता हुआ विरक्त के समान भाग रहा था। महात्मा के हृदय में हलचल थी, वह निष्पाप हृदय ब्रह्मचारी दुश्चिंता से मलीन, शिविर छोड़ कर कंबल डाले, बहुत दूर गंगा की जलधारा के समीप खड़ा होकर अपने चिरसंचित पुण्यों को पुकारने लगा।

शब्दों के द्वारा चित्र अंकित करने की शक्ति भी प्रसादजी में अद्भुत थी। दृश्यों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रेखाओं को पाठक देख सकते हैं। उन चित्रों के रंग इतने पारदर्शक होते हैं कि उस व्यक्ति के हृदय को भी हम स्पष्ट देख सकते हैं। एक उदाहरण—

घंटी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे। भोली मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारतीं, और उभरती हुई वयःसंधि से उसकी चंचलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए भी स्थिर न रहती—कभी अँगड़ाई लेती तो कभी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके पलकों की आड़ में छिप जातीं, तब भी भौंहें चला करतीं। तिस पर भी घंटी एक बाल-विधवा है।

प्रसादजी कुशल नाटककार थे। अतः अपने पाठकों का चित्त कथानक की ओर आकर्षित करने के लिए उन्होंने 'प्रभावात्मक समारंभ का आयोजन' किया है। इस संबंध में एक अन्य आलोचक का कथन है कि इससे इधर-उधर अव्यवस्थित चित्त एकाग्र हो जाता है। इस चमत्कारवाद में विशेषता यह रहती है कि लेखक सदैव वास्तविकता की ओर झुका रहता है। इस झुकाव का प्रभाव उसके कथोपकथन के वाक्य-विन्यास पर स्पष्ट दिखाई देता है। साधारणतः नित्य के व्यवहार में हम जिस प्रकार वाक्यों का उपयोग करते हैं अथवा बातचीत की झोंक में जिस भाँति हम वाक्यों की बनावट में उलट-फेर कर देते हैं उसी प्रकार 'प्रसादजी' अथवा इस दल के सभी लेखक वास्तविकता का शुद्ध आभास देने के विचार से प्रायः 'वाक्यों की' व्याकरण-सम्मत बनावट में उलट-फेर कर देते हैं। जैसे—'दुर्दांत दस्यु ने देखा, अपनी प्रतिभा से अलौकिक एक वरुण-बालिका!' 'चलोगी चंपा! पोत-वाहिनी पर असंख्य धन-राशि लाद कर राजरानी-सी जन्मभूमि के अंक में?' 'प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।' 'इतने में ध्यान आया उस धीवर बालिका का।' इस प्रकार का नाट्यात्मक कथोपकथन स्थान स्थान पर उनकी छोटी-छोटी कहानियों में भी रहता है। यह उनकी शैली की तीसरी विशेषता है।

व्यंग्यात्मक शैली—कहीं-कहीं पर प्रसादजी की रचनाओं में सुंदर व्यंग्य भी मिलता है, जो विशेष चुटीला और मार्मिक न होकर सरल और मीठा है। एक अवतरण देखिए—

मुकुल—महोदय, आपका यह हल्के जोगिया रंग का कुरता जैसे आपके सुंदर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है वैसे ही आपको दुख के मलमले अंचल में सिसकते हुए ससार की पीडा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पाता। आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली कलूटी हाँडी भी कई दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूँगफलीवाले का एक रुपये की पूँजी का खोंमचा लडकों ने उछल कूदकर गिरा दिया और लूटकर खा भी गए। उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्णा बालिका मुनके की आशा में पलकें पसारे बैठी होगी या खाट पर पडी होगी।

—एक घूँट

इस शैली का चुटकी लेता हुआ व्यंग्य उनकी शैली की चौथी विशेषता कही जा सकता है।

प्रसादजी की भाषा में मुहावरों का प्रयोग कम है। कारण, मुहावरों का प्रयोग प्राय उर्दू में लिखनेवाले लेखकों ने ही अधिकांश में किया—दो-एक लेखक इसके अपवाद भी हैं। प्रसादजी को उर्दू की चुलबुलाहट पसंद ही नहीं थी। परतु मुहावरों के अभाव से भाषा में जो शुष्कता या लचरपन आ जाता है वह उनकी रचनाओं में नहीं मिलता। अत उन्हे मुहावरों या कहावतो के झमट में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई।

## प्रसादजी की भाषा

आरंभ में प्रसादजी की रचनाओं की भाषा प्राय सरल थी, परंतु ज्यों-ज्यों उनका अध्ययन बढता गया

उनकी भाषा भी क्लिष्ट होती गई। वास्तव में मनोभावों की स्पष्टता और गंभीर विषयों की विवेचना का प्रयत्न जब किया जाता है तब भाषा क्लिष्ट हो ही जाती है। यही कारण है कि प्रसादजी की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है और अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। इसके विपरीत, जहाँ लेखक ने साधारण भाव-प्रभाव के अनुकूल भाषा लिखी है, वहाँ संस्कृत की तत्समता अधिक नहीं है। अस्तु, संक्षेप में, प्रसादजी की भाषा मुख्यतः दो प्रकार की है—

( १ ) संस्कृत प्रधान—इस प्रकार की भाषा विशेष स्थलों पर ही मिलती है, जहाँ मनोभावों का द्वंद्व चित्रित करते-करते लेखक स्वयं भावमय हो जाता है। तल्लीनता की इस अवस्था में प्रसादजी की भाषा तत्सम-शब्दावली से युक्त है।

( २ ) व्यावहारिक भाषा—जिसमें अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का अभाव तो अवश्य है, परंतु संस्कृत की प्रधानता अखरती नहीं। इस भाषा में छोटे-छोटे वाक्यों के कारण बड़ा प्रवाह और रस है। इसका प्रयोग उनके पात्रों ने या तो भावावेश में किया है या प्रसादजी ने स्वयं सरस स्थलों पर। उदाहरण के लिए—

परंतु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिंब तुम्हारे मुख पर भी है। सैनिक ! मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ; कहीं दूसरा आश्रय खोज लो।

'गला सूख रहा है, साथी छूट गए हैं, अश्व गिर पड़ा है—थका हुआ हूँ।' इतना कहते-कहते वह व्यक्ति धम

से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्मांड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई। उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई—यह सोचने लगी—'सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करनेवाले आततायी।' घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।

ममता ने मन में कहा——यहाँ कौन दुर्ग है। यह झोपड़ी न, जो चाहे ले ले. मुझे तो अपना कर्त्तव्य करना पड़ेगा। वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—'जाओ भीतर थके हुए पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मणकुमारी हूँ; सब अपना धर्म छोड़ दें तो मैं भी क्यों छोड़ दूँ?' मुगल ने चंद्रमा के मंद प्रकाश में वह महिमामय मुख-मंडल देखा; उसने मन ही मन नमस्कार किया।

—'ममता' शीर्षक कहानी

यह अवतरण दूसरे प्रकार की भाषा का उदाहरण है। इसमें उर्दू के शब्दों का प्रयोग तो नहीं है, फिर भी भाषा सरल और प्रचलित ही है। प्रसादजी की भाषा पर जब बार-बार क्लिष्टता का दोषारोपण किया गया, तब वे कुछ सरल भाषा लिखने लगे। प्रारंभिक कहानियों और नाटकों की तथा 'कंकाल' उपन्यास की भाषा का अंतर हमारे इस कथन की पुष्टि करता है—'तितली' की भाषा तो और भी व्यावहारिक और सरल है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि दार्शनिक विवेचना, आध्यात्मिक स्पष्टता और मनोभावों की व्यंजना के कारण प्रसादजी की संस्कृत शब्दावली प्रधान भाषा विषय के अनुकूल ही है तथापि उपन्यासों, नाटकों और कहानियों के सभी पात्रों का एक ही सी परिष्कृत, अलंकृत और सुसं-

गठित भाषा में बात करना नाटकीय कथोपकथन की दृष्टि से अस्वाभाविक लगता है। इधर हिंदी के विद्यार्थियों की रुचि का परिष्कार हो रहा है, फलतः प्रसादजी की शुद्ध साहित्यिक भाषा की एकरूपता से अभ्यस्त शिक्षित पाठकों को उसमें विशेष रस मिलता है और इसीलिए उनकी इस भाषा-शैली के प्रशंसकों की भी अब कमी नहीं है।

# हिंदी नाटक का विकास

हिंदी नाटक की प्रगति के संबंध में सबसे पहली ज्ञातव्य बात यह है कि उसका विकास लगभग पिछले सौ वर्षों में ही हुआ। इसके पहले कुछ नाटक लिखे अवश्य गए, परंतु साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होने के कारण उनका विशेष प्रचार न हुआ। यदि यह कहा जाय कि केवल शांतिमय वातावरण पाकर ही पिछले सौ वर्षों में नाटकों का विकास हुआ तो यह उचित न होगा। भारत में शांति मुगलकाल में भी पर्याप्त रही और गायन, वादन आदि उन अनेक कलाओं का, जिनकी प्रगति के लिए शांतिमय वातावरण नितांत अपेक्षित है, समुचित विकास हुआ। दूसरी बात यह कि संस्कृत-साहित्य-भंडार जिस प्रकार अन्य विषयों में पूर्ण है उसी प्रकार नाट्य साहित्य में भी। फिर क्या कारण है कि साहित्य के अन्य अंगों को संस्कृत से ऋण-रूप में निसंकोच लेकर भी हम नाट्य साहित्य के विषय में उदासीन बने रहे ?

पहली बात का उत्तर यह है कि मुसलमानों के धार्मिक ग्रंथों में गायन, वादन आदि अभिनय-संबंधी कलाओं का निषेध किया गया है। संभवतः इसी से मुसलमानों के राज्य में शांति रहते हुए भी नाटकों की रचना की ओर लेखकों और कवियों का ध्यान नहीं गया। इस संबंध में एक शंका यह की जा सकती है कि मुसलमानों के साथ-साथ अनेक हिंदू राजा भी तो बराबर बने रहे हैं; उनके यहाँ तो इसका निषेध नहीं था। ये तो संस्कृत के साथ हिंदी को भी अपने यहाँ सहर्ष आश्रय देते थे। तब नाटक का विकास न होने का क्या कारण है ?

दूसरी बात के उत्तर में कहा जा सकता है कि हिंदी-साहित्य के विकास के समस्त युगों में साहित्य-साधना वैयक्तिक रूप में हुई, सामूहिक रूप में नहीं। भक्त कवि तो समाज और समूह से दूर थे ही, दरबारी कवि भी एक मत नहीं थे और अभिनय के लिए एकता अनिवार्य है। वस्तुतः यह आश्चर्य की बात है कि जो साहित्य-प्रेमी शासक अपनी रसिकता दिखाने के लिए शृंगारी कवियों को आश्रय देते थे, उन्होंने ही शृंगार-भावना को उद्दीप्त करने के इस प्रमुख साधन को क्यों नहीं अपनाया?

हिंदी-साहित्य की सृष्टि उस काल में हुई जब मुसलमान शासकों के प्रभाव में आकर पुरुषों और स्त्रियों का रंगमंच पर आकर गाना-नाचना नैतिक दृष्टि से बुरा समझा जाने लगा था। परदे की प्रथा मुसलमान शासकों से चली और हिंदू शासितों में उन जातियों ने उसे विशेष रूप से अपनाया जो उनके संपर्क में अधिक आईं। राजपूतों का मुसलमानों से विशेष संपर्क रहा। इसलिए यद्यपि ये हिंदी के पोषक रहे, तो भी भक्ति अथवा रीतिमार्गी काव्य के अतिरिक्त हिंदी के किसी अन्य साहित्यिक अंग को उन्होंने प्रोत्साहित नहीं किया। यों जब भारतेंदु काल से हिंदी में नाट्य साहित्य की ओर साहित्यिकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ; उसके लिए रंगमंच का अभाव था। इस अभाव की पूर्ति अभी तक नहीं हुई है, यद्यपि नाट्य साहित्य यथेष्ट मात्रा में है। हिंदी में नाटकों की रचना का जब आरंभ हुआ तब केवल शांतिमय वातावरण ही इसका कारण नहीं था। अस्तु, भारतेंदु हरिश्चंद्र से पहले लिखे हुए जो नाटक प्राप्त हुए हैं, उनमें प्रमुख ये हैं—

| संख्या | नाटक | रचनाकाल | लेखक | विशेष |
|---|---|---|---|---|
| ( १ ) | मायाप्रपंच | सन् १६०३ | देव ( देवकवि नहीं ) | |
| ( २ ) | रामायणमहानाटक | ,, १६१० | प्राणचंद चौहान | संवादरूप में काव्य है। |
| ( ३ ) | हनूमान नाटक | ,, १६२३ | हृदयराम | संस्कृत के हनुमन्नाटक का पद्यानुवाद। |
| ( ४ ) | प्रबोध चंद्रोदय | × | × | संस्कृत से इसी नाम के नाटक का अनुवाद कई व्यक्तियों ने किया है। |
| ( ५ ) | शकुंतला | ,, १६८० | नेवाज | पद्यबद्ध नाटक ब्रजभाषा में। |
| ( ६ ) | सभासार | ,, १७०० | रघुराम | ,, ,, ,, |
| ( ७ ) | करुणाभरण | ,, ,, | कृष्णजीवन लछीराम | दोहे-चौपाइयों में |
| ( ८ ) | माधवविनोद | ,, १७५२ | सोमनाथ | मालतीमाधव का अनुवाद; सत्य-नारायण ने इससे सहायता ली। |
| ( ९ ) | जानकी-रामचरित | ,, १७९३ | हरीराम | पद्य के साथ खड़ी बोली गद्य में। पद्य की भाषा भी खड़ी बोली से प्रभावित है। |
| (१०) | रामलीला-विहार | ,, | ,, | लछमणशरण "मधुकर" | ,, ,, |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १) आनंदरघुनंदन | सन् × | —महाराज विश्वनाथसिंह | सात अंक, राम की जीवन-कथा; भाषा अस्तव्यस्त है। |
| २) नहुप-नाटक | ,, १८४१ | —भारतेंदु के पिता गोपालचंद उपनाम गिरिधरदास | गद्य और पद्य में, परंतु गद्य लगभग पाँचवाँ हिस्सा—व्रज भाषा। |
| ३) प्रद्युम्न-विजय | ,, १८४६ | —गणेश कवि | कवि नाट्यशास्त्र का पंडित जान पड़ता है। |
| ४) अभिज्ञान शाकुंतल | १८६३ | —राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६—६६) | सन् १८६३ में सारा नाटक गद्य में, पर सन् १८६० में गद्य का गद्य और पद्य का पद्य। गद्य खड़ी बोली और पद्य व्रजभाषा में। |
| ५) उत्तर रामचरित | ,, १८७१ | —देवीदत्त त्रिपाठी | प्रधानतः गद्य में—कुछ दोहे पद्य में। |

इनके अतिरिक्त विद्यापति की कुछ रचनाओं के नाम और बताए जाते हैं। नाटकों की इस परंपरा से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार हिंदी-साहित्य आदि विषयों में संस्कृत-साहित्य के ग्रंथों से निसंकोच सहायता लेता रहा, उसी प्रकार प्राचीन नाटकों के आधार पर नए नाटक भी रचे गए। अभिनय की चिंता से मुक्त रहने के कारण अपने अनुवादित नाटकों को कवि और लेखकों ने मनमाना रूप दिया। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में लिखे नाटक अधिकांश में पद्यमय हैं ; कुछ में तो प्रस्तावना-रूप में भी गद्य के दर्शन नहीं होते। हाँ, उन्नीसवीं शताब्दी में लिखित अथवा अनुवादित नाटकों में थोड़ा-बहुत गद्य मिलता है यद्यपि कुछ नाटक पूरे पद्य में भी हैं। इसका कारण अनुवादकों में भावों को सुंदर रूप से पद्य-बद्ध करने की क्षमता समझना चाहिए अथवा उनकी रुचि-विशेष, कहा नहीं जा सकता।

नाट्यकला की दृष्टि से इनमें केवल 'आनंदरघुनंदन' और 'अभिज्ञानशाकुंतल' का नाम उल्लेखनीय है। शेष नाटक बहुत साधारण है और नाटकीय तत्वों का उनमें अभाव है। इनका अध्ययन करके नाटकों में समावेश करने का आरंभ भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से हुआ। भारतेंदुजी का रचनाकाल सन् १८६८ में १८ वर्ष की अवस्था से आरंभ होता है। नाटक रचने की प्रेरणा इन्हें बंगीय नाटकों का अभिनय देखने पर मिली। अपने १७-१८ वर्ष के साहित्यिक जीवन में इन्होंने लगभग इतने ही अनुवादित और मौलिक नाटकों की रचना की। इनका सबसे पहला नाटक "विद्यासुंदर" इसी नाम के एक बंगाली नाटक का अनुवाद है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी दो-एक अनुवाद बंगाली नाटकों के किए। संस्कृत नाटकों के

अनुवादों में 'सत्यहरिश्चंद्र', 'कर्पूर मंजरी', और 'रत्नावली' सुंदर हैं। प्रथम तो कई दृष्टियों से मौलिक ही जान पड़ता है। अँगरेजी नाटकों में इनका शेक्सपियर के 'मर्चेंट आव वेनिस' का अनुवाद अच्छा हुआ है। इनकी मौलिक नाट्य कृतियों में "चंद्रावली" और "नीलदेवी" श्रेष्ठ हैं। उद्देश्य-विशेष से लिखे हुए ओजपूर्ण नाटकों में 'भारतदुर्दशा' बहुत प्रभावशाली है। भाषा के अतिरिक्त इनके नाटकों की विशेषता थोड़े परिवर्तन के पश्चात् इनका अभिनय योग्य हो सकना है। इनकी शैली में प्राचीन भारतीय नाट्य तत्वों और नवीन पाश्चात्य नियमों का सामंजस्य-सा मिलता है। संस्कृत के तत्वों का अध्ययन तो इन्होंने थोड़ा-बहुत मूल ग्रंथों के आधार पर किया था; किंतु पाश्चात्य का बँगला के द्वारा। फल यह हुआ कि पाश्चात्य और भारतीय परंपरा जिस अनुचित अनुपात के सम्मिलित रूप में बँगला में प्रचलित थी, वही भारतेंदु भी अपना सके। इस दृष्टि से यह सत्य है कि भारतेंदु के नाटकों पर वंगीय नाट्य साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा। बँगला के कई नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया और कुछ की सहायता लेकर नए नाटक भी रचे। इसी प्रकार संस्कृत नाट्य साहित्य से भी उन्होंने सहायता ली।

भारतेंदु के नाटक प्रायः पौराणिक, सामाजिक और ऐतिहासिक हैं। इनके विषयों से हमें लेखक के आदर्श और विचारों के संबंध में भी बहुत कुछ ज्ञात हो सकता है। हाँ, अनुवादित नाटकों से हमें लेखक की रुचि का पूरा-पूरा परिचय नहीं मिलता और भारतेंदु के अनुवादित नाटक ही अधिकांश में पौराणिक हैं। यदि हम इन्हें भारतेंदु के नाट्य साहित्य से अलग कर दें तो विशेषतः वे ही नाटक बच रहते

हैं, जिनका विषय समाज या इतिहास है। इन्हें लेकर उन्होंने समाज और देश की तत्काल गिरी हुई दशा का दिग्दर्शन कराया है और यह उनके स्वतंत्र निरीक्षण का परिचायक माना जा सकता है। "चंद्रावली"-जैसी नाटिकाओं में प्रेम का जो सुंदर और मनोहर विवेचन मिलता है, वह मौलिक नहीं है; उस पर परिपाटी और संस्कारों का प्रभाव अधिक पड़ा है, रुचि का कम। आशय यह है कि बड़े घर में पैदा होकर रसिकवर बन जाने के कारण मनोरंजन और विनोद के उद्देश्य से ही उन्होंने ऐसे नाटकों की रचना की। इनका कथा-संगठन सफल कहा जायगा। इस सफलता की कसौटी यह है कि कथानक के विकास के लिए एकत्र की हुई मुख्य और प्रासंगिक घटनाओं का उतना ही विवेचन किया जाय जितना विषय को स्पष्ट करने और स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त हो। भारतेंदु के नाटकों में यद्यपि कहीं-कहीं उद्देश्य-विशेष से कथोपकथन कुछ लंबे-लंबे भाषणों के रूप में हो गए हैं तथापि उनमें शिथिलता नहीं है। इसका एक कारण यह है कि उन्होंने लकीर के फकीर न बनकर सर्वत्र उचित स्वतंत्रता से काम लिया। लंबे-लंबे भाषण जैसे अवतरण "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में मिलते हैं। कला की दृष्टि से तो ये महत्त्व के नहीं हैं, न हम इन्हें स्वाभाविक ही कह सकते हैं और न इनसे हमें पात्रों के चरित्र-चित्रण में ही अधिक सहायता मिलती है; परंतु विषय की स्पष्टता और उद्देश्य की पवित्रता के कारण ये खटकते भी नहीं।

*अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में भारतेंदुजी कितना सफल* हुए हैं, इस बात की विवेचना केवल उन्हीं नाटकों को लेकर की जा सकती है जो या तो पूर्णरूप से मौलिक हों अथवा

अनुवाद होते हुए भी जिनकी रचना में पर्याप्त और वांछनीय स्वतंत्रता से नाटककार ने काम लिया हो। मौलिक नाटकों के संबंध में भी इतना ध्यान रखना चाहिए कि जिनकी रचना विषय अथवा विचारों के प्रचार के निमित्त की जाती है उनमें नाटककार को अपने पात्रों के चरित्र का यथोचित विकास करने का पूर्ण अवसर नहीं मिलता। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" ऐसा ही उद्देश्य-विशेष से लिखा नाटक है। "भारत-दुर्दशा" और "भारत-जननी" यद्यपि इस कोटि में नहीं आते तथापि लिखे ये भी निजी विचारों के प्रचारार्थ ही गए थे। अतः नाटकों की रचना के ध्येय और आदर्श का ध्यान रखकर चरित्र-चित्रण की विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि भारतेंदुजी ने मानसिक द्वंद्व की व्याख्या की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है, जितना सामान्य आदर्श का दिग्दर्शन करने की ओर। हरिश्चंद्र सत्य का आदर्श व्रती है, शैव्या आदर्श पतिव्रता स्त्री है, "नीलदेवी" का नायक सूर्यदेव सच्चा वीर राजपूत है, रानी नीलदेवी वीरता की दृष्टि से आदर्श ही है, "चंद्रावली" नाटिका की चंद्रावली का प्रेम भी आदर्श और सत्य ही है।

*सारांश यह कि नाटकों के प्रथम विकास-काल में* भारतेंदु अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफल रहे। उनके समकालीन कुछ साहित्य-सेवियों ने, जिनमें प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्णभट्ट, श्रीनिवासदास, तोताराम, काशीनाथ खत्री आदि मुख्य हैं, भारतेंदु का अनुकरण करके अनेक मौलिक और अनुवादित नाटकों की रचना की। कथानक के संगठन, विषय की नवीनता और चरित्र-चित्रण के संबंध में इन लेखकों का आदर्श भी उन्हीं से मिलता-

जुलता था। इस युग के उक्त साहित्य-सेवियों के सम्मिलित उद्योग से हिंदी-नाट्य साहित्य में केवल इतना कार्य हुआ कि हिंदी-लेखक इस ओर आकृष्ट हो गए। भारतेंदु ने संस्कृत और बँगला से तथा उनके समकालीनों ने इनके अतिरिक्त अँगरेजी-साहित्य के कुछ नाटकों का अनुवाद किया था। हिंदी-नाट्य साहित्य के विकास के दूसरे युग में यही काम अनिश्चित गति से चलता रहा। इस समय लिखे गये अथवा अनुवादित नाटक ये हैं:——

( १ ) संस्कृत से अनुवादित—इस दिशा में सबसे पहला प्रयत्न राजा लक्ष्मणसिंह ने किया था। उनके पश्चात् उल्लेखनीय कार्य करनेवाले रायबहादुर लाला सीताराम थे। सन् १८८७ से उन्होंने संस्कृत-ग्रंथों के अनुवादों में हाथ लगाया और लगभग १५ वर्ष में 'नागानंद', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', 'मालतीमाधव' 'मालविकाग्निमित्र' आदि का गद्य और पद्य में अनुवाद किया। इनका गद्य-भाग जितना सरल और स्पष्ट है उतना पद्य-भाग नहीं। इनके साथ साथ पं० ज्वालाप्रसाद ( मुरादाबाद ) ने 'वेणीसंहार' और 'अभिनय शाकुंतल' ; बा० बालमुकुंद गुप्त ने 'रत्नावली नाटिका' ; पं० सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। कई दृष्टियों से इनमें से अनेक अनूदित ग्रंथ सफल कहे जा सकते हैं।

( २ ) बँगला से अनुवादित—इस क्षेत्र में काम करने वालों में बनारस के बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू गोपालराम गहमर का नाम पहले आता है। वर्माजी ने 'वीरनारी', 'कृष्णाकुमारी' और

'पद्मावती' नामक नाटकों का अनुवाद किया और गहमरी-जी ने 'वनवीर', 'बभ्रुवाहन', 'चित्रांगदा', 'देशदशा' और 'विद्याविनोद' का। इनके पश्चात् बगला से नाटकों का अनुवाद करने में सबसे अधिक सफलता पंडित रूपनारायण पांडेय को मिली। इन्होंने द्विजेंद्रलाल के चार नाटकों—'उसपार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई'—ठाकुर रवींद्र-नाथ के 'अचलायतन', गिरीशघोष के 'पतिव्रता' और क्षीरोद-प्रसाद के 'खाँजहाँ' नामक नाटकों क अनुवाद किए। शेष अनुवादकों में महत्त्वपूर्ण कार्य बंबई के नाथूराम 'प्रेमी' का समझा जाता है।

( ३ ) अँगरेजी से अनुवादित—अँगरेजी शिक्षा का अध्ययन जब भली भाति किया जाने लगा तब उसके साहित्य से अपने देशवासियों को परिचित कराना हिंदी-भाषा-भाषियों ने आवश्यक समझा। भारतेंदु युग में यह कार्य अधिक नहीं हुआ। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों म इस दिशा में कार्य प्रारंभ अवश्य हो गया। सन् १८६५ के लगभग जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलिएट' (प्रेमलीला) 'ऐज यू लाइक इट' और 'मर्चेंट आव वेनिस' ( 'वेनिस का वैपारी' ) नामक शेक्सपियर के तीन नाटकों का अनुवाद किया। इनके पश्चात् पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' का अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' और 'जयंत' नाम से किया। पिछले में मूल अँगरेजी से मराठी में अनुवादित नाटक से भी सहायता ली गई थी।

( ४ ) मौलिक नाटक—इस युग में प्रधानता तो अनू-दित नाटकों की रही, पर दो-चार मौलिक नाटक भी लिखे गये। भारतेंदु युग के अंतिम वर्षों में पं० किशोरीलाल

गोस्वामी ने 'चौपट चपेट' नामक सामाजिक प्रहसन और 'मयंक मंजरी' नाम का एक नाटक लिखा। इनके पश्चात् पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय' नामक दो नाटक लिखे। पं० बलदेवप्रसाद ने 'प्रभास-मिलन', 'मीराबाई नाटक', 'लल्ला बाबू' नामक तीन नाटक लिखे, जिनमें अंतिम एक प्रहसन है। इनके सहोदर पं० ज्वालाप्रसाद ने 'सीता-वनवास' नाम का नाटक लिखा। इस युग के मध्यकाल में बाबू शिवनंदन-सहाय ने 'सुदामानाटक' और कानपुर के रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'चंद्रकलाभानुकुमार' नामक नाटक लिखे। अन्य नाटककारों में सर्वश्री विश्वंभरनाथ 'व्याकुल', राधेश्याम, नारायणप्रसाद 'बेताब' का नाम प्रसिद्ध है।

उक्त सूची से एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि हिंदी-नाटकों के द्वितीय विकासकाल में अनुवादों की ही प्रधानता रही। जो मौलिक नाटक लिखे भी गए उनका विषय मुख्यतः प्राचीन पौराणिक कथाओं से ही लिया गया, उनमें मौलिकता विषय की तो थी ही नहीं, कहीं-कहीं कथोपकथन भी प्राचीनता की छाया लिए हुए था। 'चौपट चपेट' और 'लल्ला बाबू' जैसे दो-एक सामाजिक नाटक विषय की दृष्टि से मौलिक थे, परंतु उनमें नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव था। 'पूर्ण' जी का 'चंद्रकला भानुकुमार' नाटक विषय के लिए प्राचीन ऐतिहासिक कहानियों पर निर्भर रहते हुए भी मौलिक और सुंदर है। भाषा भी इसकी अच्छी है, परंतु बहुत बड़ा होने के कारण यह अभिनय-योग्य न था; हाँ, साहित्यिक दृष्टि से यह पठनीय अवश्य है।

## आधुनिक युग

इधर १५-२० वर्षों से नाटक-साहित्य ने बड़ी उन्नति की है। विविध भाषाओं के नाटकों के अनुवाद इन वर्षों में किए अवश्य गये हैं परंतु मौलिक नाटकों की ओर लेखकों का ध्यान अधिक है। मौलिक नाटककारों में स्व० बाबू जयशंकरप्रसाद, श्रीहरीकृष्ण 'प्रेमी', पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र, पं० उदयशंकर भट्ट, पं० गोविंदवल्लभ पंत और सेठ गोविंददास मुख्य हैं। 'प्रेमी' जी के 'रक्षाबंधन', 'शिवासाधना'; मिश्रजी के 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली', 'राक्षस का मंदिर', 'आधी रात'; भट्टजी के 'दाहर या सिंघपतन,' 'विक्रमादित्य' 'कमला', 'अंबा', 'विश्वामित्र', 'सगर-विजय'; पंतजी के 'वरमाला', 'राजमुकुट', 'अंगूर की बेटी'; और सेठजी के 'कर्तव्य', 'हर्ष', 'प्रकाश', और 'सेवापथ' नाटक प्रसिद्ध हैं। प्रसादजी और 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों का विषय मुख्यतः इतिहास से चुना है—प्रथम ने हिंदूकाल और द्वितीय ने मुसलिम काल से। इसमें इन दोनों को सफलता भी मिली है। मिश्रजी ने योरप के साहित्य-संपन्न देशों के यथातथ्यवाद—जो समस्या जैसी है उसका ज्यों का त्यों वास्तविक रूप—को लेकर 'समस्या-प्रधान नाटक लिखे हैं। भट्टजी के नाटकों के विषय पौराणिक कहानियाँ हैं। नाट्य कला की दृष्टि से उन्होंने इनका सुंदर उपयोग किया है। पंतजी के नाटक विविध विषयों—प्रथम मार्कंडेयपुराण की एक कथा, द्वितीय मेवाड़ की ऐतिहासिक कथा और तृतीय मद्य-पान की सामाजिक समस्या—को लेकर लिखे गए हैं। सेठजी के नाटकों में भी प्रथम विवेचना-प्रधान पौराणिक, द्वितीय ऐतिहासिक और तृतीय तथा चतुर्थ सामाजिक हैं।

इस युग के आरंभ में स्वर्गीय माधव शुक्ल ने भी दो-एक नाटक लिखकर इस क्षेत्र में प्रवेश किया था। वस्तुतः ये कोरे नाटककार ही न थे, सफल अभिनेता थे। इसके लिए उनके लिखे नाटकों में सबसे बड़ी खूबी यह है कि वे साहित्य और अभिनय दोनों की कसौटियों पर सच्चे उतरते हैं। आगे के नाटकों में ये दोनों विशेषताएँ सम्मिलित रूप से प्रायः नहीं पाई जातीं।

इनके अतिरिक्त पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'चुंबन', 'चार बेचारे', ( संपादक, अध्यापक, सुधारक, प्रचारक ) और महात्मा 'ईसा', श्रीजगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' ने 'प्रतापप्रतिज्ञा', स्व० राधाकृष्णदास ने 'महाराणा प्रताप', श्रीचतुरसेन शास्त्री ने 'अमर राठौर', 'उत्सर्ग', श्रीसुमित्रानंदन पंत ने 'ज्योत्स्ना' श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन-युद्ध', पं० बद्रीनाथ भट्ट ने 'दुर्गावती', 'चंद्रगुप्त', श्रीसियारामशरण ने 'पुण्य पर्व', श्रीकैलाशनाथ भटनागर ने 'भीम-प्रतिज्ञा' आदि दो-दो, एक-एक नाटक लिख इस क्षेत्र में प्रवेश किया। इन नाटकों में कुछ न कुछ विशेषताएँ अवश्य हैं, परंतु सभी दृष्टियों से सुंदर कोई नहीं है। कदाचित् इसी से इनमें से अनेक लेखकों ने इस तरफ से हाथ खींच लिया है।

अनुवाद-कार्य—इन १५-२० वर्षों में बँगला और अँगरेजी से सुंदर और सफल अनुवाद कम हुए हैं। जो हैं भी वे या तो पूर्वानुवादों की सहायता से प्रस्तुत किए गए हैं या बहुत साधारण हैं। हाँ, जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे के सुंदर नाटक 'फाउस्ट' का अनुवाद बरेली कालेज के प्रोफेसर पं० भोलानाथ शर्मा ने बड़े परिश्रम से किया है। विद्वान् अनुवादक ने इसके लिए जर्मन भाषा सीखी है। संस्कृत नाटकों के अनुवाद का

काम अभी चल रहा है। इधर बाबू सत्यजीवन वर्मा 'भारतीय' ने भास के 'स्वप्न वासवदत्ता', श्रीव्रजजीवनदास ने 'पंचरात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'प्रतिज्ञायौगंधरायण', श्रीबलदेव शास्त्री ने 'प्रतिमा' तथा श्रीवागीश्वर विद्यालंकार ने दिङ्नाग के 'कुन्दमाला' का अनुवाद किया है।

**गीत नाट्य**—नाट्य साहित्य के विकास के प्रस्तावना-काल में संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर जिस प्रकार पद्यबद्ध नाटक लिखे गए थे उसी प्रकार इधर भी कुछ गीत नाट्यों की रचना हुई है। इन्हें हम भावनाट्य भी कह सकते हैं। इनमें 'प्रसाद' जी का 'करुणालय' पं० उदयशंकर भट्टजी का 'मत्स्यगंधा' और बाबू मैथिलीशरणजी का 'अनघ' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम दो तो अत्यंत भावपूर्ण काव्य के रूप में हमारे सामने आते हैं और अंतिम कथोपकथन-प्रधान पद्य-बद्ध सामाजिक नाटक के रूप में।

**एकांकी नाटक**—इधर छोटे-छोटे एकांकी नाटकों की रचना भी होने लगी है। हिंदी-पाठक इन्हें पसंद भी कर रहे हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि एकांकी नाटक लिखने की प्रेरणा अँगरेजी से मिली है। वस्तुतः ये संस्कृत के उपनाटक के ही आधुनिक रूप हैं। इनके लेखकों में 'प्रसाद' जी, डा० रामकुमार वर्मा, श्रीभगवतीचरण वर्मा, पं० उदय-शंकर भट्ट और पं० सद्गुरुशरण अवस्थी का नाम प्रसिद्ध है। इन लेखकों के एकांकियों के कुछ संग्रह इधर प्रकाशित हुए हैं। इनके आधार पर 'आधुनिक एकांकी नाटक' नाम का संकलन प्रकाशित किया गया है। सुंदर होते हुए भी यह पूर्ण नहीं है, परंतु उक्त लेखकों से अभी इस दिशा में बहुत आशा है।

## समीक्षा

अब तक जो कुछ लिखा गया है उससे यह स्पष्ट है कि इधर १५-२० वर्षों से नाट्य-साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की है। हमें 'प्रसाद', 'प्रेमी' आदि पर गर्व भी होने लगा है। परंतु इनके, मुख्यतः प्रसादजी के, नाटकों में एक कमी यह बताई जाती है कि ये अभिनय-योग्य नहीं हैं। इस कथन में कुछ तथ्य तो अवश्य है, परंतु यह भी सत्य है कि अपने प्रसिद्ध नाटकों का अभिनय करने का हमने उचित प्रयत्न ही नहीं किया है। भाषा की क्लिष्टता अभिनय में बाधक अवश्य होती है, परंतु यदि प्रयत्न किया जाय तो अन्य विशेषताओं के कारण अनेक नाटककारों के, हम तो कहेंगे प्रसादजी के भी, नाटकों का सफलतापूर्वक अभिनय किया जा सकता है।

रही नाट्यकला-संबंधी बात। हमारे आधुनिक नाटककार आक्षेपयोगी बातों को क्रमशः दूर करते रहे हैं और उनके नए नाटक उन दोषों से सर्वथा मुक्त हैं, जिनके लिए पाश्चात्य आलोचक नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही इनसे मुक्ति पाने का प्रयत्न आरंभ कर दिया था। 'प्रसाद'जी तक आते-आते हमारे नाटक बहुत कुछ दोष-रहित हो गए हैं और हमें आशा होती है कि भविष्य में हिंदी-नाट्य-साहित्य और भी अधिक उन्नति करेगा।

---

# दृश्यों का साहित्यिक महत्त्व

## पहला अंक

**पहला दृश्य**—इस दृश्य में नाटककार ने एक साधारण घटना को लेकर नाटक के चार प्रधान पात्र-पात्रियों—अजातशत्रु, पद्मावती, छलना और वासवी—के स्वभाव की मुख्य विशेषताओं की ओर स्पष्ट संकेत किए हैं। इस स्वतंत्र दृश्य की कथा का संबंध अगले दृश्यों की कथा से स्थापित न करके भी नाटककार ने मगध के राजपरिवार में आगे लगनेवाली गृह-कलह की आग की बात कहकर पाठकों की उत्सुकता बढ़ाई है। मगध के भावी शासक को, जो समुद्रदत्त-जैसे चाटुकारों से घिरा होने के कारण यथोचित शिक्षा से वंचित है, क्रूर देखकर सुखद और शांत शासन के लिए हम चिंतित हो जाते हैं। बौद्धधर्म के तत्कालीन प्रभाव का परिचय भी हमें यहाँ मिलता है। मगध-सम्राट् की बड़ी रानी इस धर्म से सहानुभूति रखती है और उसकी पुत्री पद्मावती भी उसके साथ है। इसके विपरीत छलना, सम्राट् की छोटी रानी, राजमाता होने के गर्व में चूर रहकर बौद्धधर्म के मूल सिद्धांत, अहिंसा को भिक्षुकों की भद्दी सीख कहकर उसकी हँसी उड़ाती है। पारस्परिक संघर्ष यहीं से आरंभ होता है। अजातशत्रु नाटक के इस प्रथम दृश्य में बुद्धिहीन क्रूर युवक के रूप में हमारे सामने आता है।

**दूसरा दृश्य**—नाटक के दो प्रमुख पात्र—बिंबसार और गौतम—के प्रथम दर्शन हम यहाँ करते हैं। एक जीवन के भौतिक संघर्ष से ऊब, दार्शनिक बनकर सामने आता है, और दूसरा विश्व की क्षणभंगुरता के नित्य दृश्य देख, संसार

से विरक्त हो, वर्षों के तप के पश्चात् शुद्ध बुद्धि होकर और विश्वमैत्री का महान् संदेश लेकर। प्रथम की दार्शनिकता उसकी सुख-लिप्सा और भोग-विलास-तृष्णा को शांत नहीं कर पाती ; दूसरे की शीतल वाणी, मधुर व्यवहार और अमर संदेश निज को ही नहीं, मानवमात्र को अनुपम शांति, और अपूर्व सुख-संतोष का अनुभव करा देते हैं।

छलना और वासवी के पिछले चरित्र यहाँ दूसरी सीढ़ी पर हैं। वासवी और पद्मावती का तिरस्कार और अपमान करनेवाली छलना यहाँ मगध-सम्राट् बिंबसार को उलाहना देती हुई पुत्र के राज्याभिषेक की आज्ञा-सी देती है और इस प्रकार शांतिस्वरूप गौतम के सामने भी अपनी टेढ़ी चाल और चरित्र की दुर्बलता का परिचय दे जाती है। वासवी का शांत स्वभाव स्वयं सम्राट् को भी शांति-प्रदान करता है। पति की सेवा करती हुई एकांत, निर्जन उपवन में जीवन के शेष दिन बिताने के लिए यह भारतीय नारी सहर्ष तैयार हो जाती है।

आगे की कथा से इस दृश्य का घनिष्ठ संबंध है। युवराजाभिषेक की योजना, बिंबसार के त्याग, गौतम के उपदेश और छलना के टेढ़े मार्ग के अवलंबन इत्यादि के फल देखने को हमारी उत्सुकता बढ़ जाती है।

नैतिक दृष्टि से गौतम के दो-तीन अमर संदेशों ने इस दृश्य को महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

**तीसरा दृश्य**—पिछले दोनों दृश्यों की कथा-संबंधी कुछ सूचनाएँ यहाँ मिलती हैं। हमें पता हो जाता है कि लिच्छिवी-कुमारी छलना गौतमबुद्ध को 'कपटी मुनि और ढकोसलेवाला ढोंगी' समझनेवाले भिक्षु देवदत्त की मंत्रणा से पति के विरुद्ध

हुई है और समुद्रदत्त भी इसी के कहने से अजातशत्रु को क्रूरता और कठोरता की सलाह देता है।

आगे के लिए दो संकेत इस दृश्य में महत्त्व के हैं—एक, गौतम को प्रभावशाली होता देख उसके प्रतिद्वंद्वी का राजशक्ति की सहायता लेने की बात सोचना और दूसरे, जीवक द्वारा कवि का इस क्रूर मंत्रणा के परिणाम की ओर संकेत करना कि सावधान, मगध का अध:पतन समीप ही है। पाठक के मन में इस समय स्वभावतः यह उत्सुकता होती है कि कुमंत्रणा पानेवाली दुर्बल शक्ति राज्य का यथोचित संचालन करके गौतम के अहिंसामय विश्वधर्म का प्रचार रोक सकेगी अथवा मगध-साम्राज्य का ही पतन हो जायगा। गौतम और देवव्रत की प्रतिद्वंद्विता का रूप देखने की इच्छा भी हम में उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से यह छोटा दृश्य महत्त्व का है।

चौथा दृश्य—पुत्र को राज्याधिकार सौंपने के पश्चात् बिंबसार के विचारों और उसकी मानसिक स्थिति से पाठकों को परिचित कराने की आवश्यकता थी। 'प्रसाद' जी ने इस दृश्य में इसी की पूर्ति की है। मगध-सम्राट् का चरित्र समझने के लिए यह दृश्य महत्त्व का है। स्वामिभक्त सेवक जीवक का चरित्र यहाँ विकसित रूप में हमारे सामने आता है। जीवक के मुँह से ही देवव्रत के भयंकर निश्चय की सूचना पाठकों को मिलती है और इस प्रकार नाटककार बिंबसार और वासवी के प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत करता है।

वासवी को पिता से आँचल में मिले हुए काशी के राज्य की आय महाराज के हाथ में ही ले आने के नए प्रस्ताव का संबंध आगे की कथा से है। पाठक बड़ी उत्सुकता से यह

नना चाहेंगे कि ऐसे धनी प्रदेश की आय ललना और
ातशत्रु अपने हाथ से निकल जाने देना कैसे स्वीकार कर
ो और वासवी उनके विरोध का क्या प्रत्युत्तर देगी।
पाँचवाँ दृश्य—कौशांबी में मागधी के मंदिर का दृश्य
ां नाटककार ने दो उद्देश्यों से दिखाया है। एक, गौतम
र के आकर्षण से कितना परे हैं कि जिस मागंधी के
भावशाली रूप पर कौशांबी-सम्राट् उदयन अपने को लुटा
ा है', उसी को वे ससम्मान अस्वीकार कर देते हैं। साथ
, 'सुनने योग्य उनके उपदेश' इतने प्रभावशाली होते हैं कि
जा उदयन उन्हें अपने राज्य में धर्म-प्रचार तक की आज्ञा
देता है। दूसरे, नाटककार ने रूपवती रमणी मागंधी के
हस्यमय चरित्र की एक छटा दिखलाई है। यह दरिद्र कन्या
ातम के अस्वीकार करने से अपना अपमान समझती है
ौर कौशांबी की रानी होकर गौतम से प्रतिशोध लेने के लिए
पत्नी पद्मावती के आचरण को पाखंडपूर्ण सिद्ध कर देती
। कथा-विकास की दृष्टि से मूल कथानक का एक नया
ध्याय यहाँ से शुरू होता है। पद्मावती और गौतम के
ाखंडपूर्ण आचरण का प्रतिशोध उदयन किस प्रकार लेगा,
स उत्सुकता के साथ इस दृश्य का अंत होता है।
छठा दृश्य—पिछले दृश्य की उत्सुकता का समाधान,
दयन के प्रतिशोध का परिचय जीवक द्वारा नाटककार कराता
। परंतु जीवक और गौतम का वार्तालाप नाटक की कथा के
िकास में सहायक नहीं होता। विदूषक वसंतक से रानी
ासवदत्ता का संदेश सुनकर पद्मावती की ओर से हम
िश्चित हो जाते हैं। यह दृश्य राजमहल के भयानक वाता-
रण से प्रभावित नहीं है, कथा का साधारण परिचय ही

इसका उद्देश्य है। कला की दृष्टि से विदूषक की हँसोड़पन की बातें सार्थक हैं। उनमें यद्यपि पाठकों के दाँत चमकाने की शक्ति नहीं है—स्वयं नाटककार यह चाहता भी नहीं कि पाठक इस स्थिति में हँसे—तथापि वातावरण की भयानकता के बीच में पाठक इन्हें सुनकर शांतिपूर्वक साँस अवश्य ले सकता है।

सातवाँ दृश्य—कोशल में श्रावस्ती की राजसभा। इसमें उत्तेजित स्वभाव के महाराज-प्रसेनजित, निर्भीक परंतु अशिष्ट राजकुमार विरुद्धक और साहसी परंतु सरलहृदय कुशल सेनापति बंधुल से हमारा परिचय होता है। तीनों पात्र अपने चरित्र की विशेषता से वातावरण को प्रभावित करते हैं। कथा-विकास में भी इस दृश्य की घटनाएँ सहायक होती हैं। विरुद्धक के राजपद से वंचित किए जाने के अपमान का तथा सेनापति बंधुल की बढ़ती हुई शक्ति से महाराज के चौंकने का फल जानने को हमारी उत्सुकता बढ़ती है। विरुद्धक की माता के, जिसका सम्मान राजमहिषी की तरह न करने की महाराज की आज्ञा है, व्यक्तित्व से भी हम परिचित होना चाहते हैं।

आठवाँ दृश्य—विरुद्धक और उसकी माता शक्तिमती के चरित्र का विश्लेषण इस दृश्य का विषय है। श्रावस्ती की राजसभा में उसकी निर्भीकता और अशिष्टता का यदि परिचय मिलता है तो इस दृश्य में उसके हृदय का कोमल भाव हमारे सामने आता है। प्रेम में यदि वासना की प्रधानता हो अथवा उसमें निराशा का भाव आ जाय तब साधारण व्यक्ति अकर्मण्य सा हो जाता है। विरुद्धक भी इसी तरह अपने अपमान और तिरस्कार की बात मल्लिका के मोह में पड़कर कुछ देर के लिए भूल जाता है, परंतु माता के उत्तेजित करने

पर उसकी वीर भावना फिर जाग्रत होती है। वह शाक्यों से प्रतिशोध लेने—उनका संहार करके उनके रक्त में नहाने, की क्रूर प्रतिज्ञा करता है। नाटककार इस प्रकार आगे के लिए हमारी उत्सुकता बढ़ा देता है।

विरुद्धक की माता शक्तिमती का साहसी और निर्भीक व्यक्तित्व उस नारी के लिए सर्वथा स्वाभाविक है जो स्वयं दासी के पद से हठ करके राजरानी के पद तक पहुँचती है और अपने पुत्र को 'महत्त्वाकांक्षा की प्रदीप्त अग्नि में' कूदने की सहर्ष आज्ञा देती है।

नवाँ दृश्य—उदयन के प्रतिशोध का प्रकट रूप यहाँ देखने को मिलता है। सोचने-विचारने की शक्ति से हीन यह शासक करुणा-निमग्न संन्यासी गौतम, और अपनी पतिप्राणा स्त्री पद्मावती को भी न समझकर अपने चरित्र की जिस दुर्बलता का परिचय देता है वह 'हृदयहीन मद्यप' के ही योग्य है। कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का कोई महत्त्व नहीं है। हाँ, 'सती का तेज', 'सत्य का शासन' दिखाना इसका उद्देश्य मानकर इसे नाटक में रहने देने की बात कही जा सकती है।

## दूसरा अंक

प्रथम दृश्य—नए हाथों में राजशक्ति लिए हुए आवेशयुक्त और उत्तेजित हृदयवाले व्यक्तियों की प्रतिकार-लिप्सा इस दृश्य के आरंभ में ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर लेती है। अजातशत्रु और देवदत्त दोनों के चरित्रों पर स्पष्टतर प्रकाश यहाँ डाला गया है। कथा-विकास की दृष्टि से यह दृश्य महत्त्वपूर्ण है। काशी के राजकर का प्रश्न लेकर नाटक-

कार प्रथम अंक से इसका संबंध स्थापित करता और आगे मगध की राजशक्ति के कार्यक्रम की निश्चित सूचना पाठकों को देता है। भावी संघर्ष के संबंध में यहाँ हमारी उत्सुकता बढ़ती है। कुमार विरुद्धक के पत्र से जो 'सुयोग' अजातशत्रु और देवव्रत को मिलता है वह स्थिति को भयंकर बनाने के लिए पर्याप्त है।

**दूसरा दृश्य**—कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का उतना मूल्य नहीं है जितना चरित्र-निर्देश की से। सेनापति बंधुल की सरल और निष्कपट राजभक्ति, राजकुमार विरुद्धक का दुराचरण, वारविलासिनी श्यामा का अपने रमणीत्व की दुहाई देते हुए प्रेम-प्रदर्शन इत्यादि के संबंध में यहाँ इतने स्पष्ट संकेत हैं कि कथा की भावी गति-विधि पर क्षण भर सोचने के लिए पाठक विवश हो जाता है।

मागंधी का नाम-रूप-परिवर्तन, कल्पित होते हुए भी, नाटक की कथा से कुशलतापूर्वक संबंधित कर दिया गया है।

**तीसरा दृश्य**—वीर-हृदय बंधुल के अदम्य उत्साह, असीम साहस और अद्‌भुत वीरत्व का परिचय हमें इस दृश्य में मिलता है। भारतीयता के अनन्य भक्त प्रसादजी ने पांडवों की कोरी कहानी-सी रह जानेवाली अलौकिक बाण-विद्या में सेनापति बंधुल को ऐसा कुशल बतलाया है कि आज के जीव नहीं, उसी की समकालीन कोशल की महारानी शक्तिमती भी चकित हो जाती है। अलौकिक वीरता-संपन्न इस व्यक्ति का गुप्तरूप से वध कराकर प्रसादजी ने भारतीय सैन्य-शक्ति के विनाश के एक कारण की ओर जैसे संकेत किया है।

मल्लिका के महान् चरित्र के पुण्य दर्शन पहलेपहल हमें इसी दृश्य में होते हैं। पतिप्राणा यह निर्भीक रमणी पति के

कर्त्तव्य-कीर्ति-पथ में बाधा डालनेवाली अपनी भोग-लालसा की मादक वासना पर गर्व से जो विजय प्राप्त करती है वह कोशल के कुशल सेनापति की वीर पत्नी के सर्वथा अनुकूल है। पति के विरुद्ध होकर पुत्र को उत्तेजित करनेवाली स्त्री महामाया का दुराचरण सामने रखकर तुलनात्मक दृष्टि से मल्लिका का चरित्र लेखक ने और भी ऊपर उठा दिया है।

कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का महत्त्व केवल इतना ही है कि हम कोशल के शासक की अपने सेनापति के प्रति दुर्बुद्धि से परिचित होते हैं; हमारे मन में उसके गुप्त आज्ञापत्र का तथा कोशल-शासक की इस अदूरदर्शिता का परिणाम जानने की सहज उत्सुकता होती है।

चौथा दृश्य—तीसरे दृश्य में रानी महामाया की कोशल के वीर सेनापति बंधुल के बध—उसी की स्त्री मल्लिका से कही हुई कोशल-नरेश के गुप्त आज्ञापत्र—की बात इस दृश्य में सत्य सिद्ध होती है। द्वंद्वयुद्ध में प्रधान सेनापति बंधुल छल से शैलेंद्र द्वारा मारा जाता है और इस तरह कोशल की सैन्य-शक्ति की रीढ़ टूट जाती है। कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का संकेत केवल इतना है कि मगध से अवश्यंभावी युद्ध में पराजित होने की तैयारी अपने सेनापति का बध कराकर कोशल-नरेश ने स्वयं कर ली है।

प्रिय शैलेंद्र को छुड़ाने के लिए श्यामारूपिणी मागंधी ने वारविलासिनियों की-सी जो चाल चली है वह उसकी कूट-नीतिज्ञता का परिचय देती है। 'स्वगत' के अंतर्गत अपने आदर्श के संबंध में उसने जो विचार व्यक्त किये हैं वे उसकी निर्मम कोमलता, स्वार्थी आनंद और निष्ठुर व्यवहार का परिचय देते हैं। समुद्रदत्त को अपने प्रेम में फँसाकर बलि

का बकरा बना डालना उसकी निर्भयता, निष्ठुरता और स्वार्थ का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

**पाँचवाँ दृश्य**—नारी-जाति के लिए कठोर अभिशाप रूप वैधव्य-दुख की मारी, सोहाग से वंचित मल्लिका का अनुपम धैर्य, आतिथ्य धर्म के अद्भुत पालन का परिचय इस दृश्य में हमें लेखक देता है। नारी के शोकपूर्ण हृदय में हाहाकार का अनुभव करके भी यह विशालहृदया रमणी अपने कर्त्तव्य से जरा विचलित नहीं होती। पतितपावन गौतम से इन महान् गुणों की प्रशंसा कराकर ही नाटककार संतोष नहीं करता; छल और प्रवंचना से अपने पति का वध करनेवाले प्रसेनजित को पाकर उसके मुखमंडल पर ईर्ष्या और प्रतिहिंसा का कोई चिह्न तक नहीं मिलता, तब इस मूर्तिमती करुणा की अलौकिक क्षमाशीलता के आगे हमारा भी मस्तक श्रद्धा से झुक ही जाता है।

**छठा दृश्य**—कथानक के विकास से इस दृश्य का घनिष्ठ संबंध है। मगध में होनेवाले परिवर्तनों का महाराज बिंबसार के विचारों पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह तो हमें मालूम होता है, साथ ही कोशल और काशी की समस्त घटनाएँ हमें ज्ञात होती हैं। सेनापति बंधुल की मृत्यु से शक्तिहीन कोशल की पराजय के संबंध में अपनी शंका सत्य होते देख हमें आश्चर्य नहीं होता; कौशांबी के समाचार से तो पाठक पहले ही अवगत हो चुके हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह दृश्य महत्त्वपूर्ण है। बिंबसार के दार्शनिक विचारों से एक ओर हमें उसके हृदय की अतृप्त अभिलाषा का पता लगता है, जिसके फलस्वरूप उसके मस्तिष्क में दार्शनिकता-भरी निराशा का जन्म होता है

और दूसरी ओर छलना की क्षुद्रता का, जो व्यक्ति को न समझ-कर आवेशयुक्त प्रतिहिंसा के लिए तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण व्यंग्य वाण चलाकर अपने कल्पित प्रतिपक्षी का हृदय जर्जर कर देना चाहती है। देवी वासवी की महत्ता का नवीन परिचय हमें यहाँ मिलता है। बिंबसार की दार्शनिक समस्याओं का वह समा-धान करती है और प्रतिहिंसा की आग में जलती हुई छलना की कटूक्तियों के लिए उस पर तरस खाकर विशाल हृदयता का सुंदर आदर्श सामने रखती है।

**सातवाँ दृश्य**—मल्लिका की क्षमाशीलता की अंतिम परीक्षा इस दृश्य में होती है। हृदय में पति के वियोग-धूल से ढँकी प्रतिहिंसा की आग को कुरेदकर उसका भागिनेय कारायण प्रज्वलित करना चाहता है; परंतु मल्लिका शांति और करुणा की वारिधारा से अपनी अग्नि को तो शीतल करती ही है, कारायण की वेगवती वर्बरता को भी शांत कर लेती है।

कथा-विकास की दृष्टि से इस दृश्य का केवल इतना ही महत्त्व है कि सेनापति और शासक से हीन दुर्बल कौशांबी-राष्ट्र को हस्तगत करने से उत्तेजित और क्रूर अजातशत्रु विमुख हो जाता है।

सद्वृत्तियाँ कुटिल हृदयों को प्रभावित कर सकती हैं, क्रूरों को भी शांत कर सकती हैं, इस दृश्य से नाटककार का यह नैतिक संकेत है।

**आठवाँ दृश्य**—द्वितीय अंक के आरंभ में कथा-विकास का जो कार्य-क्रम पात्रों ने निश्चित किया था, पिछले दृश्य की समाप्ति के साथ वह प्रायः पूरा हो जाता है। कई पात्र भी जैसे थककर अब तक विश्राम कर रहे हैं। इस आठवें दृश्य से

कथा की भावी गतिविधि पुनः निर्धारित की जाती है और पात्र संगठित और नवीन उत्साह-भरी शक्ति लेकर अंतिम निर्णय के लिए कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते हैं। शैलेंद्र नामधारी विरुद्धक श्यामा के मोहजाल को तोड़कर कारायण के साथ क्रूर मंत्रणा करता है; महामाया उन्हें उत्साहित करती है। कौशांबी और कोशल की शक्तियों के सम्मिलित हो जाने की कहकर नाटककार ने अजातशत्रु की भावी पराजय की परोक्ष सूचना भी पाठकों को दे दी है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह दृश्य अपना स्वतंत्र महत्त्व रखता है। सरल विश्वासमयी श्यामा को उसका प्रिय शैलेंद्र धोखा देकर अपनी कुटिलता और क्रूरता का परिचय देता है। जन-मत और अपवाद की परवाह न करके गौतम उसी निरीह वारवनिता की प्राण-रक्षा करते और मानवता का पुनीत आदर्श सामने रखते हैं। मल्लिकादेवी की आज्ञा से कोशल सेनापति का पद ग्रहण करनेवाला कारायण शक्तिमती के उत्तेजित करने पर विश्वासघातकता के लिए प्रस्तुत हो जाता है। पिछले दृश्य में मल्लिका और सम्राट् प्रसेनजित दोनों के प्रश्नों का उत्तर न देकर उसका मौन रह जाना उसकी जिस मानसिक दुश्चिंता और हृदय की धधकती ज्वाला का परिचायक था, उसका घातक परिणाम देखने के लिए हम तैयार हो जाते हैं।

**नवाँ दृश्य**—उदयन के विदूषक वसंतक और मगध के राजवैद्य जीवक के हास्य और विनोदयुक्त वार्तालाप से तथ्य की इतनी बात हमें मालूम होती है कि कोशल और कौशांबी-नरेशों ने परस्पर मंत्रणा करके अजातशत्रु की सेना पर आक्रमण करना निश्चित किया है। मनोरंजन की दृष्टि से इस दृश्य

का महत्त्व यह है कि जीवक की खीझ-भरी कटूक्तियाँ और वसंतक की विनोदयुक्त उक्तियाँ दरबारी चाटुकारों और सच्चे स्वामिभक्तों के कार्यों पर रोचक प्रकाश डालती हैं। विदूषक का अभिनय दर्शकों को हँसाने में समर्थ होगा। कला की दृष्टि से इस दृश्य का यही उद्देश्य है।

**दसवाँ दृश्य**—द्वितीय अंक का यह अंतिम दृश्य कथा-विकास और कला, दोनों दृष्टियों से महत्त्व का है। हमें एक ओर तो वसंतक की पिछली सूचना, कोशल और कौशांबी दोनों की सम्मिलित सेनाएँ मगध पर आक्रमण करने आ रही हैं, की सत्यता का पता लगता है और दूसरी ओर अजातशत्रु, छलना और विरुद्धक के विचारों पर पूर्व घटनाओं के पड़नेवाले फल से हम परिचित होते हैं। अजातशत्रु युद्ध की भयानकता से घबड़ा गया है। छलना उसकी निराश उदासीनता को कायरता समझती और पति-सेवा तथा पुत्र के गौरव, दोनों से वंचित होने के कारण बार-बार खीझती है। विरुद्धक अब भी कूटनीति के द्वारा कोशल का सिंहासन हस्तगत करने का स्वप्न देखता है। कोशल और कौशांबी की सम्मिलित सेना के आने और कोशल के सेनानायक को फोड़ लेने की सूचना पाकर आगे के संबंध में हमारी उत्सुकता बढ़ जाती है।

पति-सेवा से वंचित होने के जिस दुख का अनुभव इस दृश्य में छलना ने एक बार किया है, नाटककार उसके चरित्र में होनेवाले आगामी परिवर्तन की ओर एक कलापूर्ण संकेत करता है। भविष्य में अधिक की प्राप्ति की आशा से प्राप्य छोड़ देनेवाले की यही दशा होती भी है।

## तीसरा अंक

**पहला दृश्य**—असद्वृत्तियों का आश्रय लेकर उन्नति करने-वाले पात्रों की पराजय की सूचना हमें यहाँ मिलती है। अजातशत्रु के बंदी होने पर छलना की निष्ठुरता और अंत में सपत्नी वासवी के प्रति उसकी ग्लानियुक्त कातरता, विचारों का यह मार्मिक परिवर्तन, नैतिक दृष्टि से कितना सुंदर है!

देवदत्त को अपने कुचक्रों का फल यहाँ मिल जाता है। वासवी की क्षमाशीलता, अद्भुत शांति-युक्त सहनशीलता तथा विशाल हृदयता हमें इस दृश्य में श्रद्धा से मस्तक झुकाने को बाध्य करती हैं।

**दूसरा दृश्य**—प्रेम की मनोरम व्याख्या से इस दृश्य का आरंभ होता है। प्रसेनजित की कन्या वाजिरा बंदी अजातशत्रु पर मुग्ध हो आत्मसमर्पण करती है। अजातशत्रु उसे सहर्ष स्वीकार करता है। इस दृश्य का महत्त्व केवल कथाविकास की दृष्टि से है; चरित्र-चित्रण अथवा कलात्मक चमत्कार के नाते नहीं। वाजिरा से विवाह की इच्छा रखनेवाले कारायण से द्वंद्व-युद्ध का प्रस्ताव और वासवी की शीतल छाया में कुछ दिन विश्राम करने की अजातशत्रु की भोली इच्छा, दोनों बातें हमारी उत्सुकता बढ़ाती हैं।

**तीसरा दृश्य**—विरुद्धक पिछले युद्ध में घायल होता है। मल्लिका युद्ध-क्षेत्र से उसे उठा लाकर उसकी सेवा और प्राण-रक्षा करती है तथा इस प्रकार अपनी क्षमाशीलता का पुनः परिचय देती है। विरुद्धक ने ही उसके पति का वध किया था। उसको सामने पाकर भी घृणा न करना पूर्ण मानसिक निग्रह का अद्भुत आदर्श है। इसी से चमत्कृत होकर श्यामा

सोचने लगती है—जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं वही तो संपूर्ण मनुष्यता है।

विरुद्धक ने किसी समय मल्लिका से प्रेम किया था। उसी पूर्व-प्रेमिका को अपने ऊपर इस प्रकार कृपा करते देख विरुद्धक अनुमानता है कि कदाचित् मल्लिका मेरी ओर झुक रही है। यह अविचार उसके कलंकी जीवन को और भी पतित करनेवाला है। अंत में उसके विचार-परिवर्तन से नाटककार सज्जनों के सत्संग का सुफल सिद्ध करता और इस प्रकार मल्लिका-देवी का महत्त्व पुनः प्रदर्शित करता है।

श्यामा की विचारधारा यहाँ परिवर्तित रूप में प्रवाहित हो रही है। अपने पूर्वजीवन से ऊंची, उसे धिक्कारती और विलासिता को ठुकराती हुई वह मल्लिकादेवी की सेवा स्वीकारती है। भौतिक सुख-लालसा चरम सीमा पर पहुँच जब विश्वासघातकता की ठोकर खाती है तभी उसकी आँखें खुलती हैं और भावुकता-भरी विरक्ति-भावना जागरित होकर उसे मानवता के प्रति सजग कर देती है। श्यामा के विचार-परिवर्तन से नाटककार ने यही सत्य प्रतिपादित किया है।

चौथा दृश्य—स्त्री-स्वतंत्रता-संबंधी एक सामयिक समस्या के संबंध में लेखक के विचार हमें इस दृश्य में मिलते हैं। भौतिक उन्नति को जीवन का चरम लक्ष्य समझनेवाले पाश्चात्य आदर्श को अपनाकर भारतीय नारी-समाज पुरुष-वर्ग से अपने अधिकार चाहने लगा है। उनका यह प्रयत्न स्वत्व-रक्षा के इस युग में यद्यपि नवीन और चौंकानेवाला नहीं है, तथापि इसके फलस्वरूप संघर्ष और प्रतियोगिता की जिस भावना का जन्म होता है वह पारिवारिक और सामाजिक जीवन को शांतिमय नहीं रहने देती। प्रसादजी ने इस दृश्य में इसी

समस्या की युक्तिसंगत विवेचना की है। प्रस्तुत नाटक की मूल कथा का घनिष्ठ संबंध भी इस समस्या से है। अधिकार-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होकर ही छलना मगध-सम्राट् के पारिवारिक जीवन की समता नष्ट कर देती है।

प्रसादजी का निश्चित मत है कि पुरुष और स्त्री, दोनों वर्गों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हैं, उनकी शक्तियाँ भिन्न हैं और अपनी-अपनी प्रकृति को न समझने के कारण ही परस्पर संघर्ष का जन्म होता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस दृश्य में कोई विशेषता नहीं है। कोशल की रानी शक्तिमती आरंभ में अपने प्रकृत उद्धत स्वभाव का परिचय देती हुई सामने आती है; परंतु कारायण अंत में उसे शांत कर ही लेता है। मल्लिका ने अपने वक्तव्य में स्त्री-जीवन की जो व्याख्या की है, पारिवारिक शांति के लिए वह वांछनीय है। हाँ, कारायण के संबंध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दृश्य के आरंभ में जिस निराश हृदय से वह शक्तिमती से बातचीत शुरू करता है, वह नारी-जीवन की व्याख्या करते समय उसके उपयुक्त नहीं जान पड़ती। जो कुछ उसने कहा है, यदि वह मल्लिकादेवी के मुख से कहलाया गया होता, तो संभवतः अधिक सुंदर, उचित और प्रभावोत्पादक होता।

कला की दृष्टि से इस दृश्य में एक दोष है लंबे अवतरणों की अधिकता। पुरुष-स्त्री के अधिकारों, शक्तियों और स्वभावों की विशेषताओं का विश्लेषण करने के लिए इन अवतरणों की अनिवार्यता का समर्थन किया जा सकता है तथापि नाटकीय अभिनय की दृष्टि से और विशेषकर उस समय जब ऐसे व्याख्या-प्रधान अंशों की अधिकता हो, ऐसे परिच्छेद

साहित्यिक सौंदर्य लिए रहने पर भी क्रियाशीलता की गति मंद कर देने और इस तरह पाठकों को ऊबा डालनेवाले होते हैं।

**पाँचवाँ दृश्य**—कोशल की पारिवारिक कलह का इस दृश्य में अंत दिखाया गया है। प्रसेनजित मल्लिका के कहने से पत्नी शक्तिमती और पुत्र विरुद्धक को क्षमा कर देते हैं। दोनों के स्वत्व दिलाने के लिए गौतम और मल्लिका ने जो तर्क उपस्थित किए हैं, वे शांतिदायक होते हुए भी सर्वदा ग्राह्य नहीं; सभी समय उनके अपनाये जाने की अधिक आशा नहीं।

अपराधी पुत्र को क्षमा-याचना करते देख पिता के हृदय में जो वात्सल्य उमड़ता है, उसकी एक मार्मिक झलक नाटककार ने इस दृश्य में दिखलाई है।

**छठा दृश्य**—परदुख-कातरता-जनित त्याग का अनुपम आदर्श सामने रखनेवाले शांत मुख-मंडल और स्निग्ध गंभीर दृष्टिवाले गौतम की महत्ता का जो ससम्मान अनुभव जनता उनके समय में करने लगी थी उसी के संबंध में नाटककार ने यहाँ एक संकेत किया है। अंत में वसंतक ने मागंधी की वर्तमान दयनीय स्थिति की ओर कटाक्ष करके समझाया है कि भोग-विलास की क्षुद्र लालसा विश्वासघातकता की ठोकर खाकर जीवन से किस प्रकार विरक्त हो जाती है।

**सातवाँ दृश्य**—रूप-लावण्यवती जो मागंधी भोग-लिप्सा को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझती थी, शैलेंद्र के क्रूर कर्म का आघात सहकर सचेत होती है। अतीत के विकारों की स्मृति यद्यपि अब भी उसके मन में बस रही है, तथापि अपनी वासना पर उसने कठोर नियंत्रण कर रक्खा है। गौतम के संपर्क से उसका उद्धार होता है, और वह अपना आम्र-कानन संघ को समर्पित कर देती है।

**आठवाँ दृश्य**—मगध के परिवार की शांति का परिचायक यह दृश्य है। छलना पुत्र को पराजित और बंदी देखकर पहले ही सम्हल गई थी। यहाँ वह पद्मावती और वासवी से क्षमा माँगकर सब तरह से संतुष्ट हो जाती है।

**नवाँ दृश्य**—नाटक का अंतिम परंतु महत्त्वपूर्ण दृश्य। महाराज बिंबसार की दार्शनिक व्याख्या से इसका आरंभ होता है। पश्चात्, अजातशत्रु और छलना महाराज से क्षमा माँगते हैं। वासवी उन्हें पौत्र होने का शुभ संवाद सुनाती है। पुत्र-पत्नी, पुत्री, पौत्र, पुत्र-वधू सभी को सहसा पाकर वृद्ध हृदय इतना प्रसन्न हो जाता है कि काँप कर गिर पड़ता है। यहीं यवनिका-पतन होता है।

वासवी के चरित्र की महत्ता से चकित होकर महाराज के मुख से निकलता है—तुम देवी हो कि मानवी? दर्शक भी उनके साथ यही सोचते और पारिवारिक शांति-सुख का मधुर अनुभव करते हुए उठते हैं।

---

## विशिष्ट स्थलों का विश्लेपण

**पृ० ३३—जीवन की क्षणभंगुरता**—संसार में जो कुछ हमें दिखाई देता है वह सब नाशवान् है। मनुष्य इसे जानता है। वह यह भी जानता है कि यह शरीर एक दिन नष्ट हो जायगा; यहाँ के कारबार यहीं रह जायँगे और यहाँ का सब कुछ यहीं छोड़कर हमें चला जाना पड़ेगा। परंतु यह सब जानते-बूझते हुए भी मनुष्य इस संसार में अपनी जड़ अधिक से अधिक मजबूत बनाने के लिए भरसक कोशिश किया करता

। मृत्यु की ओर से मनुष्य की यह निश्चिंतता और व्यर्थ
ाहस देखकर प्रकृति मानों उसे अपने अगणित व्यापारों
ारा बार-बार सावधान करती है। रात्रि में मनुष्य निशा-
[ुं]दरी का अपार असीम वैभव देखता है। धीरे-धीरे ये
चित्र लुप्त होते रहते हैं। प्रकृति इनके द्वारा जैसे सांसारिक
भव के नष्ट हो जाने का संकेत करती है। परंतु मनुष्य का
यान इस ओर नहीं जाता। तारों के लुप्त हो जाने पर जब
र्य का प्रकाश चारों ओर फैल जाता है तब मनुष्य दुगने
त्साह से अपने रोज के काम-धंधों में जी-जान से जुट जाता
और उचित-अनुचित, *समय-कुसमय के सभी उपाय* करके
पनी शक्ति बढ़ाने में प्रयत्नशील रहता है।

मनुष्य जब समझकर भी नहीं समझता तब प्रकृति उसे एक
र फिर अवसर देती है। इस बार वह उसे काली-काली
निस्तब्ध-रात्रि का डरावना दृश्य दिखलाती है। इसमें उसका
केत हमें यह समझना चाहिए कि इस काली रात की तरह
ी मनुष्य का भाग्य भी न-जाने कितने रहस्यों से भरा हुआ
; जिन्हें समझना हमारी शक्ति से परे है।

प्रकृति का यह संदेश भी कभी तो मनुष्य सुन ही नहीं पाता
और कभी एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देता है। कारण,
सका सारा ध्यान तो अपने जीवन की, जो शीघ्र ही नाश
ो जायगा, नींव मजबूत से मजबूत बनाने की ओर ही रहता
। मनुष्य की इच्छाएँ बहुत लंबी-चौड़ी होती हैं; उनको पूरा
रने को ही उसे दिन-रात एक कर देना पड़ता है। अपनी
ाधारण स्थिति से वह सतुष्ट नहीं रहता। चाहे उस स्थिति में
से कितना ही सुख क्यों न मिलता हो, कितनी ही शांति का
अनुभव होता हो और उसका जीवन कितनी ही पवित्रता से

बीत रहा हो ; पर वह अपनी लंबी-चौड़ी इच्छाएँ नहीं छो
सकता। ऊपर चढ़ने का कोई भी मौक़ा पाकर वह सरपट उ
ओर बढ़ता है और उस समय यह भी नहीं देखना चाहता वि
रास्ते में ठोकर खाकर वह गिर भी सकता है।

विशेष (१) प्रसादजी गंभीर दार्शनिक और कवि हैं
प्रत्येक नाटक में उनके स्वभाव की इन दोनों विशेषताओं क
परिचय मिलता है। अवसर पाकर अपनी दार्शनिक-प्रियत
और कवित्व-शक्ति को छिपाने का प्रयत्न भी प्रसादजी ने कभ
नहीं किया। इसलिए इनकी छाप भी सर्वत्र स्पष्ट हो गई है।

(२) बिंबसार के मुख से इन दार्शनिक विचारों को प्रक
कराने में प्रसादजी जहाँ स्थिति की स्वाभाविकता बनाये रखने
में सफल हुए हैं वहाँ दूसरी ओर—और साथ ही साथ—
उसकी विचारधारा से भी हमें परिचित क

रहते हैं। परंतु अच्छे और बुरे, सच्चे और झूठे व्यक्ति जब इस संसार में परस्पर लड़ बैठते हैं, तब इन विरक्त साधु-संन्यासियों के मन में—यद्यपि वे सदा निष्पक्ष रहते हैं—यह इच्छा जरूर रहती है कि सब समय विजय उसी की होनी चाहिए, जिसका पक्ष न्याय का हो। यही इच्छा सत्य-रूप परमेश्वर की भी रहती है। वह भी चाहता है कि संसार में सत्य और न्याय का पक्ष ही प्रबल रहे और तभी सांसारिक शांति का सच्चा अनुभव समाज कर सकता है। सद्वृत्ति-प्रधान साधु-संतों के मन में सत्य और न्याय की विजय की जो कामना होती है वह ईश्वर की प्रेरणा से ही। यदि ऐसा न किया जाय—अर्थात् सत्य और न्याय की विजय-कामना न की जाय—और अच्छे-बुरे, सत्य-असत्य दोनों पक्ष की ओर से शुद्ध बुद्धि उदासीन रहे तो असत्य और बुराई की भी उतनी ही पक्षपातिनी समझ ली जायगी जितनी सत्य और भलाई की। पर ईश्वर को यह अभीष्ट नहीं है। इसीलिए सद्वृत्ति साधु सत्य और न्याय की विजय चाहते हैं।

विशेष—बौद्ध धर्म के आदि प्रवर्तक महात्मा गौतम ने शुद्ध बुद्धि के न्याय-समर्थन की जो व्याख्या यहाँ की है, वह सभी धर्मों की दृष्टि से मान्य है। गीता में ईश्वर को धर्म की रक्षा के लिए जन्म लेने की जो बात कही गई है उसका संकेत भी यहीं है।

पृ० ४४—अदृष्ट तो मेरा सहारा है—अदृष्ट या भाग्य कर्मवीर के लिए भावी जीवन-पथ बताने में सहायक होता है। इसी का सहारा लेकर और भाग्य पर विश्वास करके साहसी और स्वामिभक्त जीवक अपने लिए कर्तव्य-पथ निश्चित करने को तैयार है। भविष्य की चिंता उसे नहीं है। काम में सफल या असफल होना तो उसके हाथ में है नहीं। इसीलिए शक्ति

भर वह अपने कर्तव्य का पालन करने का ही प्रयत्न करता है। असफलता के डर से या कठिनाइयों की चिंता से काम छोड़कर बैठ रहना उसे पसंद नहीं है। देवव्रत और समुद्रदत्त की चालें उसे पसंद नहीं हैं। अजातशत्रु इन्हीं की सलाह मानता है। इसलिए स्वामिभक्त और कर्मवीर जीवक मगध की राजशक्ति का विरोध करने को प्रस्तुत होता है।

विशेष—इस निश्चयात्मक कथन द्वारा प्रसादजी ने स्वामिभक्त जीवक का चरित्र ऊपर उठा दिया है। देवव्रत के कुचक्रों की सूचना सम्राट् बिंबसार तक पहुँचाने के लिए एक स्वामिभक्त और साहसी व्यक्ति की जरूरत थी। प्रसादजी ने इसी कार्य के लिए जीवक की सृष्टि की है। वस्तुत: सफल नाटक के सभी पात्रों की सृष्टि इसी प्रकार विशेष उद्देश्य सामने रखकर की जाती है।

पृष्ठ ५३—अतींद्रिय जगत्—सौंदर्य पर मुग्ध होकर प्राणी अपनी सुध-बुध भूल जाता है; उसे अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। चंद्रमा की सुंदरता निहारने में लीन होना भी ऐसा ही है। लीनता की अवस्था बड़े सुख की होती है। यही सुख उदयन लूटना चाहता है। मदिरा पीकर जब वह अत्यधिक प्रेमोन्मत्त है तब सुंदरी मागंधी के रूप पर अत्यंत मुग्ध हो जाता है। उसके मुखचंद्र को एकटक मुग्ध दृष्टि से देखता हुआ वह ऐसे जगत् की कल्पना करना चाहता है जो इंद्रियों से परे है, और जहाँ नक्षत्रों की सुंदर माला धारण करनेवाली रात्रि को अत्यंत निर्मल चाँदनी फैलाता हुआ शरद् ऋतु का स्वच्छ कांतियुक्त चंद्र आलोकित करता है। इस कल्पित सौंदर्य में लीन, भावमग्न उदयन मागंधी के प्रेम में उन्मत्त रह अपने को भूल जाता है।

विशेष—प्रेमोन्मत्त उदयन की मादक अभिलाषा का नाटककार ने यथार्थ चित्र खींचा है। अपनी प्रियतमा के सौंदर्य को एकटक निहारता हुआ प्रेमी सुध-बुध भूलकर उसी में लीन हो जाने को ही जीवन का सबसे मधुर सुख समझता है।

पृष्ठ ६७—कोमल हीरककुसुम—प्रेम की प्रथमावस्था बड़ी मादक होती है। मानव-हृदय प्रिय की मधुर स्मृतियों में लीन अपने सुखद संसार में एकाकी विचरना चाहता है। उसके मन में तरह-तरह की कोमल कल्पनाएँ और मीठी-मीठी कामनाएँ उठती हैं और वह उन्हीं में मग्न होकर संसार को भूल जाता है। विरुद्धक यहाँ इसी रूप में हमारे सामने आता है। उसका कोमल प्रेम सुंदरी बाला मल्लिका से है। प्रेम में विभोर उसके हृदय में अनेक अभिलाषाएँ उत्पन्न होती हैं। परंतु वे नीरव इसलिए हैं कि एक तो मल्लिका का विवाह सेनापति बंधुल से हो जाता है और दूसरे, स्वयं वह राज्य द्वारा तिरस्कृत हो चुका है। प्रेम की सफलता की आशा न रहने पर अभिलाषाओं का नीरव हो जाना कठोर संयम का परिचायक है और सामाजिक शांति के लिए अनिवार्य भी। यही कारण है कि जिस कोमल कलेवरा के प्रथम दर्शन से विरुद्धक मुग्ध हो गया था, अपने मधुर जीवन के प्रभात में ही जिसके प्रेम को लेकर मनोहर स्वप्न देखने लगा था, मन में उन्मत्त कर देनेवाली कल्पनाएँ उठने लगी थीं, उसी को न पाकर मूक अभिलाषाएँ उमड़-घुमड़कर उसके हृदय में ही बंदिनी-सी रह जाती हैं।

प्रिय व्यक्ति का सौंदर्य मन को अलौकिक लगता है। प्रेम असुंदर को भी दिव्यता प्रदान करता है; फिर स्वतः सुंदर

की तो बात ही क्या है। यौवन की आँखें सौंदर्य को और भी मादक बना देती हैं। इसी से मल्लिका को संबोधित करके विरुद्धक कहता है कि यौवन में पदार्पण करते ही मेरी दृष्टि सबसे पहले तुम्हीं पर पड़ी। मेरे हृदय-रूपी संसार में तुम बड़े सुहावने समय में किसी दिव्य नक्षत्रलोक में खिली कुसुम-कली के समान आकर बसीं। आशय यह है कि तुम्हारा अत्यंत कांतियुक्त रूप आसपास के वातावरण को भी प्रकाशमान कर देता है। इसी से तुम्हारा स्वागत रमणीक प्रकृति के सुंदरतम अंगों ने किया। शीतल मंद पवन ने साँदी बनकर तुम्हें इस मृत्युलोक में आने में सहायता दी। आशय यह कि इस पृथ्वी पर तुम्हारा सौंदर्य सर्वथा अलौकिक समझा गया।

विशेष—जीवन, ईश्वर, धर्म आदि की व्याख्या करते समय प्रसादजी जैसे दार्शनिकता में मग्न हो जाते हैं वैसे ही प्रेम, सौंदर्य आदि की व्याख्या करते समय उनकी कवि-प्रतिभा सजग हो जाती है। यहाँ भी प्रेम और सौंदर्य की व्याख्या उन्होंने अत्यंत कवित्वपूर्ण ढंग से की है। विरुद्धक के उक्त विचार सौंदर्य-प्रेमी नवयुवक के ही हैं। युवावस्था में प्रेम और सौंदर्य की व्याख्या करते समय सभी के उद्‌गार सरस गद्यकाव्य के रूप में सामने आते हैं।

पृ० ८६—वीर हृदय—मल्लिका के कथन का सारांश यह है कि यद्यपि मेरे हृदय में प्रणय की मधुर अभिलाषा है और मेरा प्रियतम मुझसे असीम प्रेम करता भी है तथापि मैं यह नहीं चाहती कि मेरी यह प्रेम-लिप्सा अथवा सुख-लालसा उन्हें अपने कर्तव्य-पथ से विचलित कर दे। संसार के भोग-विलास में उन्हें फँसाकर कर्तव्य की अवहेलना करा देना उनके प्रति अन्याय करना है; घृणित विश्वासघात है। फिर

यदि यह सब जानते हुए मैं उन्हें कर्तव्य-मार्ग से डिगाने की कुचेष्टा करूँ तो भी वे डिगेंगे नहीं। उनके प्रेमपूर्ण हृदय में कर्तव्य का स्थान सबसे ऊपर है। वे वीर हैं, शक्तिशाली हैं, कर्तव्य-परायण हैं। मुझे उनकी इन महानताओं पर गर्व है।

विशेष—अपने वीरहृदय पति के प्रति मल्लिका के ये उद्गार एक ओर तो उसके चरित्र की महानता पर प्रकाश डालते हैं और दूसरी ओर पाठकों की दृष्टि में सेनापति बंधुल का चरित्र ऊँचा उठाते हैं।

पृ० १०२—पतितपावन की अमोघवाणी ने—दृश्य जगत् की सारी वस्तुएँ नाशवान् हैं; जो दिखाई देता है वह एक दिन अवश्य नाश हो जायगा। मनुष्य यह जानता हुआ भी उस समय तक अनजान बना रहता है जब तक उसे प्रत्यक्ष इसका अनुभव नहीं होता। इस महान् सत्य का प्रभाव व्यक्ति पर क्षणिक ही होता है; क्योंकि समय की गति शीघ्र ही मनुष्य को फिर सांसारिक बातों में फँसा लेती है और यही मोह की दुर्बलता है जो मनुष्य को घेरे रहती है। इसके विपरीत, सांसारिक पदार्थों की नश्वरता का अनुभव होने पर यदि प्राणी सजग और सावधान होकर आगे के लिए चेत जाय तो संसार के मोह से कष्ट नहीं होता; वह तो सब रहस्यों का ज्ञाता बनकर परम शांति पाता है।

पृ० १०५—प्रत्येक असंभावित घटना—समय की गति बराबर चली रहती है; उसको विश्राम करते किसी ने नहीं देखा। बड़े-बड़े दार्शनिकों ने इस गति का रहस्य समझना चाहा। शताब्दियों के अध्ययन और मनन के पश्चात् उनकी समझ में इतना आ गया कि यह गति सम नहीं है; पर यह कोई न जान सका कि इस असमानता का कारण क्या है और

इसी तरह संसार-चक्र के चलते रहने पर भी किस समय क्या घटना घट जायगी। जल, थल, राज्य, समाज, धर्म, सभी स्थानों और क्षेत्रों में नित्यप्रति ऐसी घटनाएँ सामने आती और गायब हो जाती हैं, जिनके संबंध में मनुष्य न पहले सोच सका था और न उनको सामने पाकर ही उनका कारण समझ पाता है। भँवर, बवंडर, विप्लव, उच्छृंखलता, पाप इत्यादि कार्य और घटनाएँ प्रायः एक ही हैं जिनके घटने के समय का किसी को पता नहीं रहता, केवल क्षेत्र की भिन्नता के कारण इनके नाम अलग-अलग हैं। ये सभी असंभावित घटनाएँ संसार की गति के मार्ग में सहसा आनेवाले बवंडर के समान हैं। इनके आने के समय का किसी को पता नहीं रहता; परंतु काल की गति को असमान बनाने में इनका हाथ अवश्य रहता है। इसलिए इन्हें समय की गति के नियमों का अपवाद कह सकते हैं।

इस कथन से लेखक का संकेत यह है कि मगध-राज्यशासन में और उनके परिवार में जो परिवर्तन हुए, बिंबसार ने कभी उनके संबंध में कल्पना तक न की थी; स्वप्न में भी उन्हें इनकी आशा न थी। छलना का विद्रोह और हठ, कलह-प्रयत्न, अजातशत्रु का दुस्साहस और अशिष्टाचार ने, जिसके परिणाम-स्वरूप स्वयं बिंबसार को बंदी जीवन बिताना पड़ा, महाराज के जीवन की समानता और एकरसता को नष्ट कर दिया।

संसार की गति समझता हुआ भी मनुष्य उस पर उस समय तक विचार नहीं करता जब तक स्वयं वह असंभावित-घटनाओं का फल नहीं भोगता, उनसे प्रभावित नहीं होता। बिंबसार के दार्शनिक विचार भी छलना और अजातशत्रु के असंभावित व्यवहारों का परिणाम हैं।

पृ० १०६—संसार भर में विद्रोह, संघर्ष—संसार में देव और दानव विचारवाले सदा से होते आए हैं। अधिकांश संख्या दानवों की रहती है और वे देवों को मनमाने ढंग से दबाते हैं। देवपक्ष शांति की इच्छा से उनसे बचता है, कष्ट सहकर भी उनकी ओर से उदासीन रहता है। इस पर भी दानव-पक्ष जब शांत नहीं होता, अपने क्रूर-कठोर कर्मों में बराबर लगा रहता है, विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्यंत्र और धोखा इन्हीं का कोलाहल चारों ओर सुनाई देता है तब शांति की इच्छा रखनेवाला मनुष्य चाहता है कि सामाजिक जीवन छोड़कर, पारिवारिक बंधन तोड़कर यहाँ की बातों से अपना संबंध हटा ले। यह निश्चित है कि विद्रोह, संघर्ष इत्यादि का फल बुरा और अशांतिदायक ही होगा और संभव है कि अविश्वास, अन्याय, अत्याचार की बढ़ती से लोग इतने दुखी हो जायँ कि उन्हें प्रलयकालीन कष्ट भोगने पड़ें।

गीता में धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर ने अवतार लेने का वचन दिया है। जब तक संसार में देवपक्षवालों की विजय रहती है, ईश्वर में साधारण जनता का पूरा विश्वास रहता है। विद्रोह, संघर्ष इत्यादि से ऊबकर देवपक्ष जब सांसारिक व्यवहारों से उदासीन हो एक ओर हट जाता है, दानव-पक्ष की उन्नति होती है और तरह-तरह के अन्याय, अत्याचार बढ़ने लगते हैं तब स्वभावतः जनता ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास करती है। यह अविश्वास अन्य अनेक कष्टों को जन्म देता है, सभी उच्छृंखल हो जाते हैं और तब चारों ओर उन्मत्त होकर अत्याचार करनेवाले ही दिखाई देते हैं। सारा वातावरण अशांति और दुख से भर जाता है।

नाटक की कथा से इस कथन का आवश्यक संबंध है।

पहले तो केवल मगध-परिवार में अशांति थी, फिर मगध राज्य में अन्याय हुआ। आगे चलकर कोशल में यह हवा फैली और विरुद्धक ने अजातशत्रु की बातें दोहरायीं। काशी में शैलेंद्र डाकू के नाम से उसने बड़े अत्याचार किए, निरीह प्रजा की हत्या की, कोशल के सेनापति को छल से मारा और श्यामा के प्राण लेने का प्रयत्न किया। उधर उदयन के यहाँ भी षड्यंत्र चल रहा है। देवदत्त के प्रतिनिधि बिंबसार के सांसारिक बातों से उदासीन हो जाने पर भी चारों ओर विद्रोह, संघर्ष और हत्या की धूम मच जाती है।

पृ० १५०—स्त्रियों के संगठन में—स्त्री-स्वतंत्रता-संबंधी जिस आधुनिक आंदोलन ने भारत में प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली द्वारा शिक्षित भारतीय नारियों को स्वच्छंद जीवन बिताने के लिए उत्तेजित कर रखा है, उसी के औचित्य-अनौचित्य की समीक्षा नाटककार ने इस दृश्य में की है। योरोपीय देशों का चरम आदर्श भौतिक उन्नति है जिसके लिए सभी क्षेत्रों और स्थितियों में उन्हें भयंकर संघर्ष करना पड़ता है। भारतीयों की दृष्टि इस लोक से ऊपर उठकर उस लोक जा पहुँचती है; यहाँ की चिंता छोड़कर वे उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। सारांश यह कि पाश्चात्यों का लक्ष्य इस लोक में कुछ करने का रहता है और भारतीयों का उस लोक की प्राप्ति। इसी से वहाँ वाले आरंभ से ही भयंकर संघर्ष के लिए प्रस्तुत रहते हैं—स्त्री-पुरुष दोनों को इसके लिए सदैव तैयार समझिए; परंतु इसके विपरीत, भारतवासी इस संघर्ष से बचने के ही उपाय सोचता है। हमारी प्राचीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भी इसी संघर्ष से बचने का एक प्रयत्न थी।

वस्तुतः स्त्री-पुरुषों के संगठन में, शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही अंतर है और फलतः उनका कार्यक्षेत्र भी भिन्न है जिसे समझने पर दोनों वर्गों में पारस्परिक संघर्ष के लिए कोई अवसर ही नहीं रह जाता। स्त्री-पुरुष की प्रकृति और स्थिति का यह भेद न समझकर यदि दोनों वर्ग पारिवारिक संघर्ष में प्रवृत्त होंगे तो परिणाम अंततः असंतोष ही होगा।

विशेष—स्त्री-पुरुष की प्रकृति के संबंध में 'गोदान' में प्रेमचंदजी ने एक महत्त्वपूर्ण भाषण मिस्टर मेहता से दिलाया है। पाठक उसे देखें और दोनों लेखकों के विचारों की तुलना करें।

## चरित्र-चित्रण

'अजातशत्रु' द्वंद्व-प्रधान नाटक है। मनुष्य का जीवन संघर्ष और युद्धों से भरा रहता है। इनसे ऊबकर या पराजित होकर जीवन बितानेवाले व्यक्ति समाज में कायर और निर्जीव समझे जाते हैं। फिर भी संसार में ऐसे व्यक्तियों की संख्या में कभी कमी नहीं होती। इसके विपरीत, शक्ति भर संघर्षों से लड़ने, विघ्न-बाधाओं को दूर करके कष्टों और कठिनाइयों का सामना करनेवाले व्यक्ति जीवन में कर्मवीर, भाग्य-निर्माता और महान् पुरुष कहलाते हैं। संसार इनकी पूजा करता है। जय अथवा पराजय इनकी महानता की कसौटी नहीं है। अनुचित उपायों का सहारा लेकर विजय प्राप्त करनेवाले परमुखापेक्षी से स्वावलंबी, साहसी परंतु साधनहीन पराजित का आसन कहीं ऊँचा होता है। नाटक में भी दोनों ही प्रकार के पात्र रहते हैं। परंतु अधिकांश का संबंध प्रथम वर्ग से ही होता है और सांसारिक दृष्टि से यह यथार्थ भी है। प्रथम वर्ग के इन

विजयी पात्रों से पाठकों की कोई सहानुभूति नहीं रहती ; परंतु द्वितीय वर्ग के पराजितों के लिए उनके हृदय में पर्याप्त समवेदना और सम्मान का भाव रहता है ।

'अजातशत्रु' के प्रमुख पात्रों में बिंबसार, गौतम, बंधुल, वासवी, पद्मावती और मल्लिका द्वितीय वर्ग के पात्र-पात्री हैं ; शेष का संबंध प्रथम वर्ग से है। द्वितीय वर्ग के इन कर्मवीर पात्र-पात्रियों में केवल बंधुल और मल्लिका लौकिक दृष्टि से पराजित समझे जायँगे ; परंतु नाटक में पाठकों की सहानुभूति सबसे अधिक इन्हीं दंपति के प्रति रहती है । अस्तु ।

पुरुष पात्र इस नाटक के प्राय: साधारण कोटि के हैं । गौतम के अतिरिक्त अन्य किसी के चरित्र में ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिसके कारण हमारा सर सम्मान से उसके सामने झुक जाय । यह ठीक है कि सभी मनुष्य किसी न किसी दोष से दूषित रहते हैं और उनमें केवल गुण ही गुण दिखाने से चित्रण अस्वाभाविक हो जाता है ; फिर भी नाटक के लिए ऐसे पात्रों का चुनाव उचित होता है जिनमें कोई ऐसी विशेषता अवश्य हो जो उनका चरित्र दूसरों से ऊपर उठाने में समर्थ हो सके ।

'गुन-दोषमय' विश्व के केवल दुर्बल पात्रों के चरित्र का विश्लेषण पाश्चात्य कला के पुजारियों को पसंद हो तो हो, हमारे यहाँ उसका सम्मान नहीं हो सकता । दोषों की ओर से आँख मूँदने के पक्ष में हम नहीं हैं । फिर भी नाटक के प्रमुख पात्रों के चरित्रों की विशेषता-हीनता को कला के नाम पर स्वीकार करने को हम तैयार नहीं हैं ।

इस नाटक में लगभग पंद्रह पुरुष पात्र हैं । इनमें सारिपुत्र, आनंद, समुद्रदत्त, वसंतक, सुदत्त का नाट्य-कथा के विकास में कोई हाथ नहीं है । शेष नौ पात्रों में से 'शांति के सहचर,

करुणा के स्वामी महात्मा गौतम समस्त मानवों के लिए पूज्य हैं, श्रद्धा से मस्तक झुकाने योग्य हैं। अतः उनमें दोष की कल्पना भी असह्य हो सकती है। दूसरी बात यह है कि इस नाटक में उनके दर्शन हमें उस समय होते हैं जब प्रारंभिक जीवन के संघर्षों पर वे पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं। अतः कथा की दृष्टि से उनके चरित्र का नहीं, प्रभाव की दृष्टि से उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण नाटककार को अभीष्ट है।

शेष आठ पात्रों में बिंबसार, उदयन और प्रसेनजित तीन राजा हैं। तीनों के चरित्रों की दुर्बलताओं के अनुपात का प्रसरण उनके महत्त्व के प्रतिकूल होता है। उदयन का कार्य और स्थान नाटक में सबसे कम है; इसलिए उसमें दुर्बलताएँ सबसे अधिक हैं। उसकी रसिकता और रूप-लोलुपता उसे अंधा बना देती है—संभव है, यह अवस्था का दोष हो। बुद्धिहीन की भाँति ही वह अपनी रानी पद्मावती को मारने के लिए भी तैयार हो जाता है। उसके इन कार्यों से पाठकों को उसके चरित्र के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता।

प्रसेनजित का उत्तेजित स्वभाव आरंभ में अपनी पत्नी और पुत्र के लिए तथा शंकित हृदय अपने ही सेनापति के लिए भयंकर सिद्ध होता है; परंतु आगे चलकर, नाटक के कथा-विकास में उसका काफ़ी हाथ देखकर, प्रसादजी ने उसे सम्हाल लिया है। उत्तेजित स्वभाव और शंकित हृदय होने पर भी उसमें मनुष्योचित सोचने-समझने की बुद्धि और सद्गुणों तथा सद्वृत्तियों का सम्मान करने की योग्यता भी है।

महाराज बिंबसार का कथा की प्रगति से निकटतम संबंध है। इसलिए उसके चरित्र में लेखक ने मोह और वैराग्य का

स्वाभाविक और अवस्थानुकूल मानसिक द्वंद्व दिखाकर ही संतोष कर लिया है।

शेष पाँच पात्रों में अजातशत्रु और विरुद्धक दो राजकुमार हैं। प्रथम का तो कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व है ही नहीं; वह नाटक का नायक अवश्य है; परंतु संघर्षों का सामना करने में अपने चरित्र की कुछ ऐसी दुर्बलताओं का परिचय वह देता है कि उसके प्रति हमारे हृदय में सम्मान का कोई भाव उत्पन्न ही नहीं होता। हाँ, विरुद्धक निर्भीक अवश्य है जिसको कर्मपथ पर बढ़ने से हिचकने न देने के लिए—दूसरे शब्दों में उसकी कर्मवृत्ति को उत्तेजित और प्रेरित करने के लिए—उसकी माता की आवश्यकता होती है। इन नवयुवकों के ऐसे चरित्र से क्या लेखक का यह संकेत मान लें कि जिस देश के ऐसे चरित्रहीन शासक होंगे, वह अवनति के गर्त में अवश्य गिरेगा?

देवदत्त, जीवक और बंधुल अन्य प्रमुख पात्र हैं। इनमें प्रथम विचारहीन, ईर्ष्यालु और षड्यंत्रकारी है। संभवतः महात्मा गौतम के प्रतिद्वंद्वी भिक्षु की प्रकृति ऐसी ही रही होगी। हाँ, जीवक और बंधुल के चरित्र बड़े प्यारे हैं। दोनों सरल और शुद्ध हृदय से स्वामियों की यथोचित सेवा करते हैं।

सारांश यह कि इस नाटक के पात्रों की विविधता तो स्वाभाविक है; नित्यप्रति हम विभिन्न प्रकृति और आचरण के व्यक्ति अपने चारों ओर देखते हैं। परंतु भारतीय आदर्श के अनुकूल विशिष्ट स्वभाव के प्रधान पात्र का इसमें अभाव है। प्रमुख पात्रों में से यदि कोई किसी न किसी महान् गुण से विभूषित नहीं होता तो नाटक की कथा भी विशेषतारहित हो जाती है। यही बात हम 'अजातशत्रु' में देखते हैं।

नाटक के कथानक में जो कुछ प्रवाह और उत्तेजित वाता-वरण की कर्मशीलता है वह स्त्री पात्रों की देन है। वस्तुत: स्त्री पात्रों ने ही इस नाटक को असफल होने से बचा लिया है। वासवी, पद्मावती, मल्लिका, मागंधी, शक्तिमती और छलना सभी का अपना अपना व्यक्तित्व है। इनमें प्रथम दो में सद्वृत्तियों की प्रधानता है और अंतिम तीन में उनकी अप्रधानता। मल्लिका की विशालहृदयता केवल सुख-मग्न करने की वस्तु है। उसका चरित्र बड़ा प्यारा है और बड़े सम्मान के योग्य भी। उसकी परीक्षा सबसे कठोर है और उसमें वह बिलकुल खरी उतरती है। उसकी प्रशंसा करते-करते महात्मा गौतम भी गद्गद हो उठते हैं, इसी से उसके चरित्र की महानता स्पष्ट है।

सद्वृत्तिप्रधान पात्रियों में वासवी और उनकी पुत्री पद्मावती भी हैं। द्वितीय का नाटक की कथा के विकास में कोई हाथ नहीं है। इसलिए उसकी हम झलकमात्र देखते हैं। वासवी की सदाशयता उसके पातिव्रत धर्म का फल समझना चाहिए। उसका वात्सल्य भी सराहनीय स्वाभाविकता की डोरी पकड़े हुए है।

छलना, मागंधी और शक्तिमती असद्वृत्ति-प्रधान पात्रियाँ हैं। इन तीनों की महत्त्वाकांक्षा कथा की प्रगति में सहायक होती है। यह महान् वृत्ति संसार के समस्त विकास का मूल है और दृढ़ता नामक सद्वृत्ति के साहचर्य से व्यक्ति को उन्नति के पथ पर ले जाती है। परंतु कुछ असद्वृत्तियों का सहयोग हो जाने पर इसी के कारण व्यक्ति को पथ-भ्रष्ट होना और नीचा देखना पड़ता है। उक्त पात्रियों में सबसे अधिक दृढ़ता शक्तिमती में है और सबसे कम मागंधी में। असद्वृत्ति का सहयोग

भी सबसे कम मिलता है शक्तिमती को और सबसे अधिक मागंधी को। शक्तिमती को उसकी क्रोधित उत्तेजना—यद्यपि यह थोड़ा-बहुत महत्त्वाकांक्षा-भावना को प्रदीप्त करने में सहायक भी होती है—पथभ्रष्ट करती है और द्वितीय को वासना-प्रधान ईर्ष्या जो मनुष्य को सिवा नीचे गिराने के कभी ऊपर उठा ही नहीं सकती। फलतः मागंधी का यहाँ तक पतन होता है कि वह वेश्यावृत्ति सहर्ष स्वीकारती है। इसके विपरीत, शक्तिमती को, अपनी असफलता का अनुभव करने पर क्रोधाग्नि शांत होने के पश्चात्, पुनः राजसी पद मिलता है।

छलना मध्यम श्रेणी की स्त्री है। कुमंत्रणा और ईर्ष्या महत्त्वाकांक्षा की अग्नि को प्रज्वलित करती है और अपनी असफलता-जन्य उत्तेजना के वशीभूत होकर वह पति और सपत्नी को अपशब्द तक कह जाती है। अंत में पुत्र की पराजय और उसके बंदी होने का समाचार पाने पर जब उसके वात्सल्य को चोट पहुँचती है, तब कुमंत्रणा के कारण से मुक्ति पाने को वह प्रयत्नशील होती है। पश्चात्, उसके अंतःकरण में सद्वृत्तियों का उदय और नारी-हृदय की कोमलता का ज्ञान होता है।

वस्तुतः महत्त्वाकांक्षा की महान् वृत्ति जिस असद्वृत्ति के सहयोग से अवनति की ओर मनुष्य को ले जाती है, उसी के शांत अथवा पराजित होने पर अर्थात् सद्वृत्ति के पुनः सहयोग पर पतित को उत्थान की ओर उठाती है। छलना की कुमंत्रणा-जनित ईर्ष्या, मागंधी की वासना-प्रधान ईर्ष्या और शक्तिमती की क्रोधमूलक उत्तेजना आदि असद्वृत्तियों के असफल, पराजित और शांत होने पर वे जिस निर्मल रूप में हमारे सामने आती हैं, वह छलना के लिए निस्वार्थ-सेवा-

प्रधान वात्सल्य, मागंधी के लिए अनुपम धैर्ययुक्त क्षमा और शक्तिमती के लिए सदुपदेशजनित निर्मल प्रेम जैसी सद्वृत्तियों के सहयोग का सुफल समझना चाहिए। मूल रूप में ये सद्वृत्तियाँ मानव-हृदय में ही वर्तमान रहती हैं। परंतु इनका उदय उस समय होता है जब असद्वृत्तियों को बहुत गहरी ठेस लगती है अथवा कोई बड़ी हानि होती है। छलना अपने एक-मात्र पुत्र को बंदी देखकर, जिससे उसका हार्दिक वात्सल्य तिलमिला जाता है, मागंधी शैलेंद्र की विश्वासघातकता देखकर, जिससे उसका प्रेममय हृदय भग्न हो जाता है और शक्तिमती असफलता का भारी धक्का खाकर जिससे उसके कल्पना-प्रासाद की दीवारें ढह जाती हैं, सचेत होती हैं।

---

प्रमुखपात्र

## बिंबसार

संसार के संघर्षों से ऊबे हुए मगध-सम्राट् का दर्शन नाटककार हमें उसके जीवन के संध्याकाल में कराता है। राजनीतिक अशांति अनेकानेक विद्रोह और कुचक्रों का दमन करके भी—राज्य की तो बात दूर जब वे अपने छोटे से परिवार में ही शांति न स्थापित कर सके—अपने प्रयत्न में बुरी तरह असफल रहे तब उनका दार्शनिक की तरह पाठकों के सामने आना स्वाभाविक ही है। फिर भी 'भीषण भोग से विश्राम' लेने को वे प्रस्तुत नहीं हैं—राज्य के भौतिक सुखों से अभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है। अजातशत्रु को युवराज बना देने का प्रस्ताव करनेवाले गौतम के सामने उनका पुत्र की अयोग्यता का प्रश्न उठाना उनकी इस अतृप्ति की ओर संकेत करता

है। अपनी यह दुर्बलता प्रकट करके उन्होंने प्रथम अंक, दूसरे दृश्य के आरंभ में कहे हुए अपने दार्शनिक विचारों को परोक्ष रूप से सत्य सिद्ध कर दिया है।

अजातशत्रु का राज्याभिषेक कर देने के पश्चात् उन्हें एक *प्रकार से संतोष हो जाता है। पुत्र तो पिता की आत्मा ही है* और पुत्र को अधिकार देना मनुष्य 'अपनी ही आत्मा का भोग' समझकर संतुष्ट हो जाता है। इस वानप्रस्थ आश्रम में उन्हें थोड़ा दुख तभी होता है जब कुछ मिलने की बड़ी आशा लेकर आए हुए भिक्षुकों और याचकों को अपने पास *से निराश लौटता* वे देखते हैं। वासवी उनके इस कष्ट को दूर करने के लिए पिता से आँचल में पाये हुए काशी के राज्य की आय ले लेने का उनसे प्रस्ताव करती है और वे सहमत हो जाते हैं। झगड़े की दूसरी जड़ यही है जिससे छलना उनके फिर विरुद्ध हो जाती है।

*प्रतिहिंसा-जनित* इस अप्रिय व्यवहार और छलना के उद्धत स्वभाव ने तथा पुत्र की अशिष्टता और कृतघ्नता ने शांति के इच्छुक इस वृद्ध शासक को निराश, दार्शनिक बना दिया। संसार उसे विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्यंत्र और प्रतारणा से भरा दीखने लगता है। फलस्वरूप संसार की घटनाएँ जानने के लिए उसके मन में किसी प्रकार की उत्सुकता और रुचि नहीं रह जाती।

नाटक के अंत में उद्दंड स्वभाव के पुत्र को अपने सामने विनम्र और पत्नी को क्षमाप्रार्थिनी के रूप में पाकर यह वृद्ध हृदय अत्यंत हर्ष से इतना गद्‌गद हो जाता है
सम्हाल ही नहीं पाता। परंतु उसकी प्रसन्नता
[खि]मगंन है कि उसके जीवन का यह

हर्षातिरेक को कम नहीं कर पाता। हमारी सम्मति में तो यह भी उसके सुख-सौभाग्य का ही चिह्न है।

## अजातशत्रु

अपने चित्रक के लिए मृगशावक न लानेवाले शिकारी लुब्धक की चमड़ी कोड़े मारकर उधेड़ने को तैयार कठोरहृदय किशोर के रूप में अजातशत्रु सर्वप्रथम हमारे सामने आता है। क्रूर और निष्ठुर कामों से उसी को बचानेवाली स्नेहमयी बहन का हृदय समझने की उसमें बुद्धि नहीं है। पद्मावती जब उसे उक्त निर्दयकर्म से रोकना चाहती है तब वह इसका विरोध करता है। अपनी माता को वासवी और पद्मावती का अपमान करते देखकर भी वह अविचलित रहता है। उसकी न निजी इच्छाशक्ति है और न विचारशक्ति ही ; माता के इशारे पर वह सब काम करता है। ऐसे विचारशक्तिहीन युवक के हाथ में मगध के शासन की बागडोर जाने पर क्या दशा होगी, इसकी कल्पना से ही पाठक चिंतित हो जाता है। कुछ समय पश्चात् राज्याभिषेक के उत्तरदायित्व को समझे बिना ही अजातशत्रु गौतम के सामने सब काम सम्हाल लेने की हामी भर लेता है।

संचालन-सूत्र हाथ में लेने पर अजातशत्रु में उत्तेजना और आवेश के साथ-साथ पर-निर्भरता और भी बढ़ जाती है। काशी की प्रजा द्वारा राजाज्ञा के उल्लंघन की सूचना पाकर विमाता के व्यंग्य-स्वर की बात सोच वह क्रोधित हो जाता है। इस समय प्रतिकार के उपाय के लिए उसे देवव्रत की सलाह चाहिए। परिवर्तन-प्रेमी बनकर प्राचीन राजतंत्र की पद्धति को सुधारने की इच्छा होने पर भी उसमें सुलझी हुई बुद्धि नहीं

है। अपनी यह दुर्बलता प्रकट करके उन्होंने प्रथम अंक, दूसरे दृश्य के आरंभ में कहे हुए अपने दार्शनिक विचारों को परोक्ष रूप से सत्य सिद्ध कर दिया है।

अजातशत्रु का राज्याभिषेक कर देने के पश्चात् उन्हें एक प्रकार से संतोष हो जाता है। पुत्र तो पिता की आत्मा ही है और पुत्र को अधिकार देना मनुष्य 'अपनी ही आत्मा का भोग' समझकर संतुष्ट हो जाता है। इस वानप्रस्थ आश्रम में उन्हें थोड़ा दुख तभी होता है जब कुछ मिलने की बड़ी आशा लेकर आए हुए भिक्षुकों और याचकों को अपने पास से निराश लौटता वे देखते हैं। वासवी उनके इस कष्ट को दूर करने के लिए पिता से आँचल में पाये हुए काशी के राज्य की आय ले लेने का उनसे प्रस्ताव करती है और वे सहमत हो जाते हैं। झगड़े की दूसरी जड़ यही है जिससे छलना उनके फिर विरुद्ध हो जाती है।

प्रतिहिंसा-जनित इस अप्रिय व्यवहार और छलना के उद्धत स्वभाव ने तथा पुत्र की अशिष्टता और कृतघ्नता ने शांति के इच्छुक इस वृद्ध शासक को निराश दार्शनिक बना दिया। संसार उसे विद्रोह, संघर्ष, हत्या, अभियोग, षड्यंत्र और प्रतारणा से भरा दीखने लगता है। फलस्वरूप संसार की घटनाएँ जानने के लिए उसके मन में किसी प्रकार की उत्सुकता और रुचि नहीं रह जाती।

नाटक के अंत में उद्दंड स्वभाव के पुत्र को अपने सामने विनम्र और पत्नी को क्षमाप्रार्थिनी के रूप में पाकर यह वृद्ध हृदय अत्यंत हर्ष से इतना गद्गद हो जाता है कि अपने को सम्हाल ही नहीं पाता। परंतु उसकी प्रसन्नता से दर्शक इतने सुखमग्न हैं कि उसके जीवन का यह अंत भी किसी के

हर्षातिरेक को कम नहीं कर पाता। हमारी सम्मति में तो यह भी उसके सुख-सौभाग्य का ही चिह्न है।

## अजातशत्रु

अपने चित्रक के लिए मृगशावक न लानेवाले शिकारी लुब्धक की चमड़ी कोड़े मारकर उधेड़ने को तैयार कठोरहृदय किशोर के रूप में अजातशत्रु सर्वप्रथम हमारे सामने आता है। क्रूर और निष्ठुर कामों से उसी को बचानेवाली स्नेहमयी बहन का हृदय समझने की उसमें बुद्धि नहीं है। पद्मावती जब उसे उक्त निर्दयकर्म से रोकना चाहती है तब वह इसका विरोध करता है। अपनी माता को वासवी और पद्मावती का अपमान करते देखकर भी वह अविचलित रहता है। उसकी न निजी इच्छाशक्ति है और न विचारशक्ति ही; माता के इशारे पर वह सब काम करता है। ऐसे विचारशक्तिहीन युवक के हाथ में मगध के शासन की बागडोर जाने पर क्या दशा होगी, इसकी कल्पना से ही पाठक चिंतित हो जाता है। कुछ समय पश्चात् राज्याभिषेक के उत्तरदायित्व को समझे बिना ही अजातशत्रु गौतम के सामने सब काम सम्हाल लेने की हामी भर लेता है।

संचालन-सूत्र हाथ में लेने पर अजातशत्रु में उत्तेजना और आवेश के साथ-साथ पर-निर्भरता और भी बढ़ जाती है। काशी की प्रजा द्वारा राजाज्ञा के उल्लंघन की सूचना पाकर विमाता के व्यंग्य-स्वर की बात सोच वह क्रोधित हो जाता है। इस समय प्रतिकार के उपाय के लिए उसे देवदत्त की सलाह चाहिए। परिवर्तन-प्रेमी बनकर प्राचीन राजतंत्र की पद्धति को सुधारने की इच्छा होने पर भी उसमें सुलझी हुई बुद्धि नहीं

है। परिषद् के सदस्यों के सामने यद्यपि वह बड़ी चतुरता से सारी स्थिति रखता है, फिर भी अपनी उत्तेजना के कारण इतनी शीघ्रता से अपने मूल विषय पर वह आ जाता है कि देवदत्त को बीच ही में बोलना पड़ता है। वस्तुतः सरलहृदया विमाता का विरोधी होकर भी वह देवदत्त की तरह कुटिलहृदय और कूटनीतिज्ञ नहीं बन सका है। कुमार विरुद्धक के पत्र से उसे प्रसन्नता होती है; परंतु कुशल राजनीतिज्ञ की भाँति वह उसके कारण और परिणाम पर विचार नहीं करता।

कोशल की सेना को पराजित करने के पश्चात् मगध लौटने पर जब उसे पुनः उदयन और प्रसेनजित की सम्मिलित सेना के आने का पता चलता है तब उसके चरित्र की दुर्बलता से हम परिचित होते हैं। माता के उत्तेजित करने पर उसका यह कहना कि तुम्हारे ही कहने से पिता को हटाकर मैं सिंहासन पर बैठा, हमारी दृष्टि में उसका चरित्र और भी गिरा देता है। फिर भी मानवोचित संस्कारों का अजातशत्रु में सर्वथा अभाव नहीं है। मल्लिका की प्रसेनजित के प्रति अद्भुत क्षमाशीलता को वह देव-कर्म समझता है और स्वयं क्रूरता से विरत होकर प्रसेनजित-वध और कोशल-विजय का विचार स्थगित कर देता है। उसके उत्तेजित हृदय को शांति प्रसेनजित की कन्या से प्रेम करने पर मिलती है। इसकी प्राप्ति की इच्छा से वासवी की शीतल छाया में विश्राम करने, और इस प्रकार निज प्रेयसी-समीप रहने का वह बहाना करता है। अपने पुत्र उत्पन्न होने का शुभ समाचार पाकर उसे पिता के हृदय का पता लगता है और तब वह वृद्ध सम्राट् से क्षमा माँगकर उनके अंतिम जीवन को शांत और सुखी बना देता है।

# विरुद्धक

निर्भीक और साहसी कोशल का राजकुमार विरुद्धक, मगध-नरेश बिंबसार के वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकारने और अजातशत्रु के राज्याधिकार पाने की बात को लेकर, इस कार्य का समर्थन करते हुए अपने उत्तेजित स्वभाव के पिता प्रसेनजित से कहता है कि युवराज को राज्य-संचालन की शिक्षा देना महाराज का कर्तव्य है। राजकुमार विरुद्धक के परोक्ष संकेत को समझ महाराज अत्यंत उत्तेजित हो, उसका गर्व तोड़ने और बड़प्पन तथा महत्त्वाकांक्षा से पूर्ण हृदय कुचलने के उद्देश्य से उसे युवराज-पद से वंचित कर देते हैं। यह निर्वासित राजकुमार इस घोर अपमान, अनादर की पराकाष्ठा को असहनीय समझता है, परंतु कोशलदेश की सीमा वह नहीं छोड़ना चाहता, क्योंकि मल्लिका नाम की एक कोमल सुंदरी से वह प्रेम करता है। मल्लिका के सौंदर्य की व्याख्या में जिस समय वह मग्न है, उसी समय उसकी माता आकर उसे ताड़ना देती और उसे 'महत्त्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुंड में कूदने को' प्रस्तुत देखना चाहती है। वस्तुतः विरुद्धक में सद्वृत्तियों की कमी नहीं है; पर उसके चरित्र की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उन्हें जाग्रत करने के लिए, उसे उत्तेजित और उत्साहित करके कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होने का पाठ पढ़ाने के लिए, एक व्यक्ति की आवश्यकता होती है। इसीलिए माता की इतनी ही ताड़ना की ठेस से मोह का परदा फट जाता है और शाक्यों से भयंकर प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा कर विरुद्धक वहाँ से चल देता है।

राज्य से तिरस्कृत होने पर उसके विरोधी हृदय में पिता के प्रति जो प्रतिकार-भावना उदय होती है उसका संबंध गौरवपूर्ण

आत्माभिमान से इतना नहीं है जितना दुराचरण से। काशी में डाकू-वृत्ति करने और वारविलासिनी के फेर में पड़ जानेवाला निर्वासित युवक नवीन राज्य-स्थापन का यदि स्वप्न देखे तो इसे उसका दुस्साहस ही कहा जायगा जिसका दुखद परिणाम भविष्य में उसे देखना ही चाहिए। पिछले दृश्य में पिता द्वारा एक छोटी-सी बात के तिरस्कृत होने पर पाठकों की जो सहानुभूति उसने सरलता से प्राप्त कर ली थी वही यहाँ उक्त कार्य करके, 'दुर्विनीत' से 'दुराचारी' बनकर, वह सहज ही खो भी देता है।

शैलेन्द्र की रसिकता कुछ समय के लिए उसे कर्तव्य-पथ से विचलित कर देती है। श्यामा के प्रेम में बँधकर वह अपना अपमान तक भूल जाता है; परंतु चेत होने पर उसका श्यामा की हत्या करने को प्रस्तुत हो जाना अधमता की पराकाष्ठा है, क्रूरता की चरम सीमा है। अस्तु। शैलेंद्र नाम से डकैती करने, कोशल के सेनापति को धोखे से मारने और श्यामा का गला घोटने के पश्चात् कुमार विरुद्धक कोशल और कौशांबी की सम्मिलित सेना के मगध पर आक्रमण करने की सूचना पाकर अपने क्षात्रियत्व की परीक्षा देने के लिए अजातशत्रु से आ मिलता है। कोशल के नए सेनापति कारायण को भी उसने कूटनीति से फोड़ लिया है।

युद्ध हुआ। उसमें विरुद्धक घायल होता है। मल्लिका सेवा करके उसके प्राण बचाती है। नीचाशय विरुद्धक समझता है कि शायद यह मुझसे प्रेम करने लगी। है पतिप्राणा मल्लिका इस पर बुरी तरह उसे फटकारती है। श्यामा भी इसी समय उसकी विश्वासघातकता सिद्ध करने आ जाती है। अंत में अत्यंत लज्जित होकर विरुद्धक उसके पैरों पर गिर पड़ता है।

मूर्तिमती करुणा मल्लिका की क्षमाशीलता से प्रभावित होकर विरुद्धक अपनी उलटी चाल छोड़ पिता से भी क्षमा माँगता है और इस तरह पारिवारिक कलह का अंत होता है।

## गौतम

बौद्धधर्म के विश्वप्रसिद्ध प्रवर्तक गौतम बुद्ध इस नाटक में अपने धर्म का प्रचार करते हमें मिलते हैं। मगध, कोशल आदि प्रदेशों के शासकों के पास जाकर उन्होंने मानवोचित करुणा, अहिंसा, प्रेम, जीवन की सरलता, वाणी की शीतलता और मधुरता आदि का उपदेश दिया। सबसे पहले उनका दर्शन हमें मगध के राजकीय प्रकोष्ठ में होता है। गौतम यहाँ उदासीन साधु-संतों को भी सत्य और न्याय का समर्थक बताते हैं। वे स्वयं शुद्ध बुद्धि हैं। इसलिए परोक्षरूप से हमें उनके ही जीवन की सत्य और न्याय-प्रियता का पता लग जाता है। राजा बिंबसार की छोटी रानी जब उनके सामने अपने अविचार और टेढ़े स्वभाव का परिचय देती है तब भी वे मगध-सम्राट् से उसके प्रति अधिक शीतल वाणी का उपयोग करने और मधुर व्यवहार बनाए रखने की ही बात कहकर परिवार में शांति स्थापित करना चाहते हैं। व्यंग्य को वे 'संसार' के उपद्रवों का मूल समझते हैं; क्योंकि हृदय में जितना यह चुभता है उतना कटार भी नहीं। वे स्वयं अपने बर्ताव में व्यंग्य से बचने का सदैव प्रयत्न करते हैं। वाक्संयम उनकी दृष्टि में विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है। अपनी शीतल वाणी और मधुर व्यवहार से ही उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया है, भूले-भटकों को सीधा मार्ग दिखाया है। धार्मिक क्रूरता और अत्याचार का, असहिष्णुता और राज-

नैतिक आंदोलनों का तथा अशान्ति और सामाजिक दुर्व्यवहार का अंत किया।

गौतम सदैव अपने कर्तव्य-पथ पर निश्चल हैं। लोकापवाद की चिंता छोड़कर वे शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कार्य करते रहने को ही अपना सबसे बड़ा कर्तव्य समझते हैं। श्यामा की रक्षा करते समय भी उनकी दृष्टि लोकापवाद पर नहीं, मानवता पर ही रहती है।

उनकी देवोपम क्षमाशीलता, अलौकिक प्रेम-व्यवहार और अनुकरणीय शील का चित्रण प्रसादजी ने बड़े सुंदर ढंग से किया है। अपने समकालीन राजाओं पर उनका जो प्रभाव नाटक में दिखलाया गया है उसका समर्थन इतिहासकार भी करते हैं।

## प्रमुख पात्रियाँ

## वासवी

मगध-सम्राट् बिंबसार की बड़ी रानी वासवी पतिप्रेम और सहृदयता की प्यारी मूर्ति है। सपत्नी-पुत्र अजातशत्रु के लिए भी उसके मातृहृदय में स्वाभाविक प्रेम है। हिले-मिले जीवों और घर के सेवकों से ही नहीं, जीवमात्र के लिए प्रेम और दया का प्रसार करके वह परिवार को सच्चे सुख का अनुभव करते देखना चाहती है। सपत्नी छलना द्वारा अपमानित किए जाने पर भी वह उसके पुत्र अजात के युवराजाभिषेक की घोषणा का सहर्ष समर्थन करती है। अपने पति के साथ वह एक साधारण उपवन में रहकर ही जीवन के शेष दिन सुख-शांति से बिता देने को तैयार है। महाराज बिंबसार जब अजात को राज्या-

हो जाते हैं तब वह भी संतोष की साँस लेती है। परंतु अपने पति मगध-सम्राट् को बड़े कष्ट से भिक्षुकों और याचकों को निराश करते उससे नहीं देखा जाता। सम्राट् का यह दुख दूर करने के लिए वह पिता द्वारा आँचल में पाये काशी-राज्य की आय सीधे महाराज के हाथ में आने का प्रबंध करना चाहती है। फलस्वरूप छलना की ईर्ष्याग्नि फिर भड़कती है। परंतु वासवी ने अपने गौरवपूर्ण आचार-विचार से सर्वत्र अपने सम्मानित पद की रक्षा की। पति के संग निर्जन स्थान में सपत्नी की बंदिनी बनकर भी उसके मुख पर क्षोभ-क्रोध की एक रेखा नहीं आती। संसार के सुखों की लालसा का सर्वथा त्याग करके पारिवारिक अशांति से क्षुब्ध पति की दार्शनिक विवेचना में संतोषजनक सहयोग देने में ही वह सदैव प्रसन्न रहती है। सपत्नी छलना की प्रतिहिंसा पर उसने कभी क्रोध नहीं किया, उसके व्यंग्य-प्रहारों पर उसने कभी मुँह नहीं बिगाड़ा, उसके कटु आक्षेपों का उत्तर देने का विचार भी वह कभी मन में नहीं लाई। कह सकते हैं कि वृद्ध सम्राट् बिंबसार का साथ इस वृद्धावस्था में इसने न दिया होता तो निस्संदेह वे पागल हो जाते। नाटक में संघर्ष, विद्रोह, प्रवंचना की उत्तेजित अग्नि को शांत करने में भी इसका बड़ा हाथ रहा है।

अपने कर्तव्य को भलीभाँति समझनेवाली शांतहृदया यह रमणी सपत्नीपुत्र की पराजय और उसके बंदी होने का समाचार सुनकर विकल हो अपने प्राणपति को छोड़ कोशल जाने को तैयार हो जाती है। छलना के समझाने के लिए नारी के जो कर्तव्य उसने परोक्ष रूप से बतलाये हैं, शांत और सुखद पारिवारिक जीवन की इच्छा रखनेवाली नारीमात्र के लिए वे अनमोल रत्न के समान हैं।

## मल्लिका

स्त्रीसुलभ सौजन्य, समवेदना, कर्तव्य और धैर्य की उचित शिक्षा प्राप्त यह वीर रमणी कोशल के कुशल सेनापति बंधुल की पतिप्राणा पत्नी है। नाटक के दूसरे अंक में हमें इसके प्रथम पुण्य दर्शन होते हैं जब हम इसके अनुराग-सुहाग और गौरवपूर्ण हृदय की बात सुन उसके सुख से सुखी हो जाते हैं। दूसरे दृश्य में ही हमें उसके सौभाग्य के नष्ट होने का अप्रिय संवाद मिलता है। लौकिक दृष्टि से यह दुखद घटना सांसारिक सुख-लता पर तुषारपात है; परंतु नाटक में इसके पूर्व मल्लिका के वीर चरित्र की जिस महानता से हम परिचित होते हैं वह इसके पश्चात् और भी विकसित और उन्नत रूप में पाठकों को चकित करती है।

पति-मृत्यु का घोर संतापकारी संवाद—वैधव्य-दुख का कठोर अभिशाप—पाने के कुछ क्षण पश्चात् ही अनुपम धैर्यपूर्वक महात्मा गौतम के आतिथ्य का जो आयोजन करती है वह विश्वमैत्री का उपदेश देनेवाले इस महापुरुष की सम्मति में भी अत्यंत सराहनीय है। मल्लिका वास्तव में मूर्तिमती धर्मपरायणा है। उसका चरित्र धैर्य और कर्तव्य का आदर्श है; उसके हृदय में अखंड शांति है, अपने भयंकर शत्रु प्रसेनजित को सामने पाकर भी उसके महिमामय मुखमंडल पर ईर्ष्या या प्रतिहिंसा का एक चिह्न नहीं दिखाई देता। इस मूर्तिमती करुणा और क्षमाशीलता को देखकर किसका हृदय हर्ष से गद्गद न होगा! किसका मस्तक श्रद्धा से झुक न जायगा! उसकी क्षमाशीलता है भी तो अद्भुत और अलौकिक। अपने प्राणपति को छल से मारने का षड्यंत्र रचनेवाले की रक्षा तो वह करती ही है,

स्वयं उसके घातक कुमार विरुद्धक को पाकर भी अनेक कष्ट सहकर उसकी सेवा करती और उसके प्राण बचाती है। यही नहीं, कोशल जाकर उसके पिता से उसका राज्याधिकार दिलाने को भी प्रस्तुत हो जाती है।

प्रसेनजित को क्षमा करके उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता से भरी क्षमाशीलता का जो अद्भुत—अजातशत्रु के शब्दों में देव-कर्तव्य-सा—आदर्श मल्लिका स्थापित करती है, उसकी अंतिम परीक्षा का अवसर वह है जब स्वयं उत्तेजित कारायण 'मरणासन्न और दुर्वृत्त' कोशलनरेश प्रसेनजित को मारने—संघर्षपूर्ण प्रतिहिंसा की अग्नि से जलते इस जगत् की प्रतिध्वनि-सी करने—के लिए उसे प्रेरित किया चाहता है। इस समय मल्लिका के उद्गार मनुष्यमात्र के हृदय में विश्वमैत्री की अपूर्व शांतिदायक भावना जाग्रत् करने में समर्थ हैं। उसकी इस क्षमाशीलता से उसका अपराधी प्रसेनजित ही नहीं, उत्ते-जित अजातशत्रु भी बहुत प्रभावित होता है।

मल्लिका के चरित्र से प्रसादजी का प्रधान उद्देश्य यह सिद्ध करने का जान पड़ता है कि जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं वही तो पूर्ण मनुष्यत्व है। देवत्व कल्पित होते हुए भी मनुष्य को सुधारने के लिए अद्भुत मंत्र का काम करता है; वही तो सबका आदर्श है। मल्लिका का महान् चरित्र मनुष्यता की दृष्टि से संपूर्ण है; आदर्श है और जो उसके संपर्क में आता है, कितना ही क्षुद्र क्यों न हो, उससे प्रभावित होता है। अपने साम्राज्य के सर्वश्रेष्ठ वीर को प्रवंचना और छल से मरवानेवाला प्रसेनजित, कुमंत्रणा में पड़कर अपने माता-पिता को बंदी बनानेवाला अजातशत्रु, प्रतिहिंसा की आग में जलता हुआ कारायण, क्रूर-कुटिल, विश्वासघाती विरुद्धक, दुराचारिणी

श्यामा, सभी उसके संपर्क में आते, अत्यंत चकित होकर उसका महिमामय मुखमंडल देखते और अत्यंत श्रद्धा से अपना सर उसके आगे झुकाते हैं। प्रसादजी की यह कृति कितनी अद्भुत, अपूर्व है!

---

## छलना

संकुचित दृष्टि और क्रूर मनोवृत्तिवाली यह स्त्री, जिसकी धमनियों में लिच्छिवी रक्त बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है और जिसको अपने इस कुल पर बड़ा गर्व है, बिंबसार की छोटी रानी तथा अजातशत्रु की माता है। निरीह जीवों के प्रति मानवी करुणा—अहिंसा—को वह भिक्षुकों की, उसका कटाक्ष गौतमबुद्ध की ओर है, भद्दी भीख समझती है जो शासकों के लिए व्यर्थ है, उपेक्षणीय है। उसका तर्क यह है कि न्याय की रक्षा के लिए शासकों को दंड देना ही पड़ता है और यह काम हिंसामूलक है। पद्मावती ने अजातशत्रु को जीवों पर दया करने की मानवोचित शिक्षा दी; यह देख छलना समझती है कि उसके पुत्र को अयोग्य शासक बनाकर वह उसका राज्य आत्मसात् कर लेना चाहती है। सपत्नी वासवी पर भी उसे विश्वास नहीं है, और अजातशत्रु के प्रति उसके वात्सल्य का तिरस्कार करती हुई निरादर के स्वर में वह उससे कहती है—'आज से कुणीक तुम्हारे पास न जाने पायगा और तुम भी यदि भलाई चाहो तो प्रलोभन न देना।' इस प्रकार छलना राजपरिवार में गृह-विद्रोह की आग लगा देती है। दूसरे ही क्षण राजा के पास जाकर वह गर्व-भरे स्वर में अजात को युवराज बनाने की 'आज्ञा'-सी देती है।

छलना की दुर्बलता का परिचय पाकर भी उसके चले आने पर गौतम बिंबसार से उसकी बात मान लेने को कहते हैं। छलना अब राजमाता हो जाती है ; उसे राज्याधिकार मिल जाता है। गौतम के प्रतिद्वंद्वी भिक्षु देवदत्त ने उसे इस कार्य के लिए विशेष रूप से उत्तेजित किया है। उसकी कुटिल तथा गौतम के प्रति द्वेषभरी कुमंत्रणा छलना को और भी नीचे गिरा देती है।

प्रतिहिंसा की आग में जलनेवाली कुटिलहृदया यह नारी अपनी थोड़ी सफलता पर फूल उठती है। अजातशत्रु की प्रसेनजित पर विजय का समाचार पाते ही इसकी क्षुद्र मनोवृत्ति सपत्नी वासवी को जलाने के लिए विकल हो जाती है। इसके कुटिल व्यवहारों से एक बार तो स्वयं महाराज बिंबसार भी उत्तेजित हो उठते हैं। दूसरे ही क्षण, वीर-प्रसूता होकर चक्रवर्ती पुत्र से चरण-वंदना कराने का गौरव-पूर्ण स्वप्न देखनेवाली अभिमानिनी छलना अजातशत्रु की उदासीन कायरता से खीझकर कभी तो उसे उत्तेजित करती है और कभी पति-सेवा से वंचित होने पर निराशा-भरे स्वर में अपनी आंतरिक वेदना व्याप्त करती है। नारी-सुलभ कोमलता को दबानेवाली ईर्ष्या और कुटिलतायुक्त जिस अप्राकृतिक कठोरता का अभिनय वह अब तक करती आई है, आज पहली बार वह उसका साथ छोड़ती दिखाई देती है। देवदत्त और विरुद्धक के उत्तेजित करने पर यद्यपि इस समय अजातशत्रु उत्साहित होकर युद्ध के लिए तैयार हो जाता और इस प्रकार माता की इच्छा पूरी करने का प्रयत्न करता है, परंतु इतना निश्चित है कि इससे छलना को पूर्णतः संतोष नहीं होता। शीघ्र ही अजात के पराजित और बंदी हो जाने पर वह फूट-

मंत्रणा देनेवाले देवदत्त पर भूखी सिंहिनी-सी टूट पड़ती है— उसे बंदी बनाकर वासवी का कलेजा निकलवा लेने की बात कह जाती है । उसकी दशा इस समय घायल बाघिनी से, वर्षा की पहाड़ी नदी से भी भयंकर है । कठोरता और निष्ठुरता की यही सीमा समझिए । पश्चात्, वह स्वयं अपनी असफलता पर रो पड़ती है । वह स्वीकारती है कि नारी का हृदय कोमलता का पालना है, शीतलता की छाया है, दया का उद्गम है और अनन्य भक्ति का आदर्श है । अजात के बंदी होने पर संतान के प्रति माता की करुणा और स्नेह का स्रोत उसके मन में उमड़ता है । नारीत्व और मातृत्व की भावना उसमें जागती है । इस प्रकार उसके चरित्र का पतन और उत्थान दिखाकर नाटककार ने गौतमबुद्ध की अहिंसा और क्षमाशीलता का महत्त्व प्रदर्शित किया है ।

---

## शक्तिमती

कोशल की रानी शक्तिमती महत्त्वाकांक्षा की मूर्त्ति और साहस की देवी है । उसका पद उचित है या अनुचित, यह तो दूसरी बात है ; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह भाग्य पर नहीं, अपनी शक्ति और चेष्टा पर विश्वास करती है—भाग्य के भरोसे बैठे रहना उसकी समझ में निस्तेज और कायर का काम है । दासी-पुत्री होने-न-होने में तो उसका हा[illegible] था, पर राजरानी का पद वह अपने हठ से ग्रहण कर[illegible]
पुत्र को उसने उपदेश दिया है—महत्त्वाकांक्षा [illegible]
कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों
के लिए काल-स्वरूप बनो, साहस के साथ

करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायँगी। हम समझते हैं कि उसका पति-विरोध अनुकरणीय समझा जाय चाहे न समझा जाय, उसके साहस और तेज की हमारी माताओं और बहनों को आज अत्यंत आवश्यकता है।

पति द्वारा तिरस्कृत होने पर पुत्र के निरादर का प्रतिशोध लेने के लिए वह उतावली होती है। साधनहीन होने के कारण कभी अपने भाग्य को वह दोष देती है, कभी पुत्र की अकर्मण्यता पर झुँझलाती और उसे उत्तेजित करती है और कभी कोशल के स्वामिभक्त सेनापति की कर्तव्यपरायण स्त्री के हृदय में घमंडी कोशल-नरेश के मन में उसके पति के प्रति अविश्वास और फलस्वरूप उसके वध-संबंधी गुप्त पत्र की बात कहकर विद्रोह-भावना उत्पन्न करना चाहती है। सेनापति बंधुल की मृत्यु के पश्चात् वह कोशल के नये सेनापति दीर्घकारायण को भड़काती और अपने मातुल के वध का बदला लेने को उत्तेजित करती है। अपने इस प्रयत्न में भी असफल होकर मल्लिकादेवी के संपर्क से उसके हृदय में सद्-भावनाओं का उदय होता है और अंत में वह पति से क्षमा माँगकर पूर्व पद पुनः प्राप्त करती है।

---

## मागंधी

अपने रूप पर गर्व करनेवाली मागंधी, जिसमें निश्चयात्मक सद्वृत्ति का अभाव आरंभ से ही खटकता है, इस नाटक की प्रमुख पात्रियों में है। हँस-हँसकर अपने रूप की ज्वाला में वह स्वयं जलती है और चाहती है कि जिसको वह चाहे वह भी उसी की इच्छानुसार उसी में आकर जले। एक बार

वह गौतम को चाहती है ; पर वे उससे विवाह करना अस्वीकार कर देते हैं। इस 'अपमान की यंत्रणा में पिसने' को वह दरिद्र कन्या कौशांबी के राजा उदयन से विवाह करती है।

राजरानी होकर भी उसे चैन नहीं है ; शांति नहीं है। वह गौतम से प्रतिशोध लेने को तैयार होती है। अपनी दासी नवीना को साथ लेकर वह उदयन की दूसरी रानी पद्मावती के प्रति राजा के मन में शंका पैदा करती और पूर्वनिश्चित षड्यंत्र के अनुसार पति की वीणा में साँप का बच्चा दिखलाकर यह सिद्ध कर देती है कि पद्मावती गौतम को चाहती है और उनका उपदेश सुनने के बहाने उन्हें अपने महल में किसी दूसरे उद्देश्य से रक्खे हुए है। पद्मावती के इस कपटाचरण-भरे व्यभिचार की बात सुन-समझकर उदयन क्रोध में आकर उसको दंड देने का निश्चय कर लेता है और इस तरह मागंधी की इच्छा पूर्ण होती है।

उदयन का राजमहल जल जाने पर नाम-रूप बदलकर श्यामा बन जानेवाली, सुख की खोज में उन्मत्त मागंधी की अतृप्तवासना और हृदय की धधकती ज्वाला का परिचय हमें उस समय मिलता है जब वह शैलेंद्र नामक डाकू के बल-वीर्य पर मुग्ध हो अपना सर्वस्व निछावर करके और प्राण देकर भी अपनी 'सत्य' स्नेह की कैसी भी परीक्षा में उत्तीर्ण होने की आशा लेकर भयंकर रात्रि में एकांत और निर्जन स्थान पर आती और अपने प्रेममय रमणीत्व की दुहाई देकर शैलेंद्र से प्रणय-भिक्षा माँगती है। पश्चात्, शारीरिक सुख-लालसा के लिए पागल, प्रिय शैलेंद्र के रूप-बल पर उन्मत्त, विलासिनी श्यामा अपनी कामलिप्सा की तृप्ति के लिए

प्रतिपल विकल रहने लगती है। उसका कोमल रमणी-हृदय इस समय अत्यंत निर्भय और निष्ठुर हो उठा है। वारविलासिनी हो भोगविलास को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य उसने बना रक्खा है और इस बात की उसे जरा भी चिंता नहीं है कि तत्संबंधी साधन जुटाने के लिए उसे कितने हृदयों को मसलना-कुचलना पड़ेगा, कितने अभागों की बलि देनी होगी और कितने हँसतों को रुलाना होगा। अपने रूप की ज्वाला में जलने के लिए पतंग बनकर आये हुए समुद्रदत्त की, अपनी सुख-लालसा की यज्ञाग्नि में वह पहली बलि देती है। इसके पूर्व भी इस निष्ठुर-निर्भयता की प्रस्तावना-सी कठोरता पद्मावती के प्रति वह कौशांबी के राजमहल में दिखा चुकी है।

प्राणप्रिय शैलेंद्र की रक्षा के लिए समुद्रदत्त का वध करानेवाली श्यामा का निश्चय ही शैलेंद्र के प्रति सच्चा प्रेम और विश्वास है। परंतु यही शैलेंद्र जब उसको सोते देख उससे छुटकारा पाने और धन प्राप्त करने के लोभ से उसकी हत्या का असफल प्रयत्न करता है, तब उसकी आँखें खुल जाती हैं। आजन्म अपने रूप पर गर्व करनेवाली विलासप्रिय यह रमणी अंत में शैलेंद्र के विश्वासघात पर सचेत हो जाती है। पश्चात् उसे हम पूर्वकालीन अनुचित कृत्यों के लिए पश्चात्ताप करती हुई प्रायश्चित्त के लिए प्रस्तुत निर्मल और परोपकारिणी नारी के रूप में देखकर संतोष की साँस लेते हैं।

नाटक में ऐसे पात्रों की सृष्टि उद्देश्य-विशेष से की जाती है। मागंधी की सृष्टि भी उद्देश्य रहित नहीं है। भौतिक और शारीरिक सुखों की ओर उनकी प्रतिपल की क्षीणता और अंततः नश्वरता की ओर से आँख मूँदकर उत्कट लालसामय लिप्सा लेकर बढ़नेवाले मानव-मात्र को प्रिय पात्र की विश्वास-

घातकता, कृतघ्नता और क्षुद्रता दिखाकर सचेत करना प्रसादजी का ध्येय जान पड़ता है। नाटक के अंत में पश्चात्ताप की अग्नि में अपनी कलुषता-कालिमा जलाकर शुद्ध हो जानेवाली मागंधी को देखकर दर्शकों के मन में भी ऐसे ही दार्शनिक विचारों का उदय होता है और हमारी सम्मति में यही नाटककार की अभिलाषा भी है। इस दृष्टि से मागंधी का चित्रण सफल है।

### अन्य पात्र-पात्रियाँ

## प्रसेनजित

कोशल के राजा प्रसेनजित के चरित्र की विशेषता उसका जातीय अभिमान है, जो उत्तेजनावस्था में अतिशयता की हेय कोटि तक पहुँच जाता है। कोशल की विश्वविश्रुत गाथा, उसके दशरथ, शांता और रामचंद्र के अनुकरणीय कार्य-कलाप उसके आदर्श हैं। यह साधारणतः उत्तेजित प्रकृति का शासक है जो अपने इकलौते पुत्र विरुद्धक की एक सीधी बात से आवेश में आ उसका 'बड़प्पन और महत्त्वाकांक्षापूर्ण हृदय अच्छी तरह कुचलने' को प्रस्तुत हो जाता है। पुत्र की निर्भीकता उसे भले ही सह्य होती, पर उसकी अशिष्टता से वह इतना चिढ़ जाता है कि उसे युवराज-पद से वंचित कर देता है और उसकी माता का राजमहिषी का-सा सम्मान न करने की आज्ञा देता है।

इसका शासक हृदय बड़ा शंकित है। जिस सेनापति बंधुल की विजय-गाथा वह गर्व से सुनता है—उसे कोशल के गौरव की बात समझता है—और उपहार-स्वरूप स्मरण-चिह्न देता है, दरबारियों द्वारा उसी की जय सुनकर वह सहसा चौंक

उठता है। उसकी नित्यप्रति बढ़ती हुई शक्ति देखकर उसके मन में शंका हो जाती है। पश्चात् छल, प्रवंचना और कपट-व्यवहार करके वह अपने ही प्रधान सेनापति का वध करा देता है और इस प्रकार अपनी भावी पराजय का बीज बोता है। आत्मगौरव का भाव उसमें अवश्य है; परंतु यह अभिमान का अप्रिय और हानिकारी मिश्रण है जिससे उसकी गौरव-भावना हमें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाती। कला की दृष्टि से उसके चरित्र का यह विश्लेषण प्रसादजी की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचायक है।

अपने प्रधान सेनापति को कपट से मरवाने के पश्चात् युद्ध में जब वह पराजित होता है तब उसी की विधवा पत्नी की आदर्श क्षमाशीलता को यह कठोर दंड समझता है और प्रायश्चित्त के लिए प्रस्तुत होता है। इस ग्लानि-प्रदर्शन से पाठकों के हृदयों में उसकी क्षुद्रता के प्रति क्षोभ-भावना बहुत कुछ कम हो जाती है। अंत में वह अजातशत्रु को वंदी बनाकर बहन के कहने से छोड़ देता है। गौतम तथा मल्लिका के आदेशानुसार पत्नी शक्तिमती और पुत्र विरुद्धक को भी क्षमा करके अपने स्वभाव में शांतिप्रद परिवर्तन का परिचय देता है।

## बंधुल

कोशल का कुशल सेनापति बंधुल वीरता और साहस में अद्वितीय है। हिमालय का सीमाप्रांत बर्बर लिच्छिवियों के रक्त से ठंडा करके जब वह लौटता है तब यद्यपि उसकी नम्रता देखकर कोशलनरेश को उस पर गर्व होता है और वे विजय का स्मरण-चिह्न उसे बड़े स्नेह से प्रदान करते हैं तथापि प्रजा

के मुख से 'सेनापति बंधुल की जय' सुनकर उसका शासक हृदय शंकित हो उठता है और वे सहसा चौंक उठते हैं। परंतु अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहनेवाला यह सरल हृदय सैनिक, जिसके लिए सम्मानित सामंत-पद का कोई आकर्षण नहीं है, राज्याधिकार के षड्यंत्रों से दूर है, आडंबर और कपटाचरण से घृणा करता है। कर्तव्य-परायणता और राजभक्ति के सम्मिलित भावों ने उसके चरित्र को अत्यंत प्रिय बना दिया है; परंतु उसकी सरल विश्वासी प्रकृति उसके असामयिक और शोचनीय निधन का कारण होती है। पाँच सौ मल्लों का अकेले सामना करके उन्हें पराजित करनेवाले इस वीर के दर्शन हमें दो बार ही होते हैं। फिर भी उसकी स्मरणीय राज्यभक्ति हमें अत्यंत प्रभावित करती है।

---

## जीवक

मगध-सम्राट् का कंचुकी और राजकुल का प्राचीन सेवक जीवक बड़े जीवट का आदमी है। वह बड़ा स्वामिभक्त है। देवदत्त और समुद्रदत्त की कूटमंत्रणा की सूचना पाकर उन्हें फटकारता हुआ वह कहता है—संघभेद करके आपने नियम तोड़ा है। उसी तरह राष्ट्रभेद करके क्या देश का नाश करना चाहते हो? पश्चात् वह इन दोनों को सावधान भी कर देता है—सावधान, मगध का अधःपतन दूर नहीं है। महाराज की प्राणरक्षा के लिए चिंतित होकर वह अपने गार्हस्थ्य जीवन के सुखों का त्याग करने को प्रस्तुत हो जाता है। वह भाग्यवादी नहीं है। अपने कर्म पर वह विश्वास करता है। अकर्मण्य होकर बैठ रहना उसे नहीं आता। साहसी वह इतना है कि

सद्वृत्ति द्वारा प्रेरित किए जाने पर मगध की 'उच्छृंखल नवीन राजशक्ति का विरोधी होकर अकेले उसका सामना करने का कठोर निश्चय कर लेता है।

---

## देवदत्त

गौतम बुद्ध का यह प्रतिद्वंद्वी भिक्षु ही है जिसने 'संघभेद करके जिस प्रकार नियम तोड़ा है उसी प्रकार राष्ट्रभेद करके देश का नाश करना चाहता है।' अपना आदर्श उसने 'भिक्षु' ( गौतम ) के हाथ से मगध का उद्धार करना बना रक्खा है। गौतम को यह 'ढकोसलेवाला ढोंगी' और 'बड़ा ही कपटमुनि' समझता है और उन्हें प्रभावशाली होता देख उसकी छाती पर साँप लोट जाता है। लिच्छिवी कुमारी छलना को मगध-सम्राट् के विरुद्ध उठाने और उत्तेजित कराने में इसका बड़ा हाथ रहा है। अजातशत्रु के युवराज होने पर यह उसे भी एक तरह से मुट्ठी में कर लेता है।

गौतम की ख्याति से चोट खाकर उसे मिटाने के लिए मगध के राजपरिवार की वैर-बेलि सींचने को प्रस्तुत देवदत्त कुशल कूटनीतिज्ञ की भाँति अजातशत्रु को तो अपने हाथ में किए ही है मगध की राष्ट्र-परिषद् के सदस्यों से भी अपने विचारों का समर्थन करा लेता है। महाराज बिंबसार को बंदी बनाने का प्रस्ताव जब समुद्रदत्त करता है और परिषद्गण इसका विरोध करते हैं तब देवदत्त ही स्थिति सुधारता है। बड़ी कुशलता से 'युद्धकाल की राजमर्यादा के नाम पर' राज-कुल की विशेष रक्षा के बहाने उसी प्रस्ताव का अनुमोदन वह करा लेता है।

छलना जब पुत्र की कायरता से दुखी है तब उसे सांत्वना

देता हुआ बच्चों के-से ढंग से अजातशत्रु को उत्साहित करता है। युद्ध में पुत्र के पराजित होने पर जब छलना की आँखें खुलती हैं, तब वह उसकी दुष्टताओं की सूची गिनाकर उसको बंदी करा लेती है। वासवी के कहने से उसे मुक्त कर दिया जाता है।

---

## समुद्रदत्त

अजातशत्रु की क्रूरता को बढ़ावा देने का नीच काम करनेवाला समुद्रदत्त है। यह कार्य वह अपने गुरु देवदत्त की, जो गौतम का प्रतिद्वंद्वी है, आज्ञा से कर रहा है। स्वयं उसमें इतना साहस भी नहीं है कि वह निडर होकर युवराज के साथ रह सके—उसके उद्धत स्वभाव से ही उसे डर मालूम होता है। देवदत्त का यह अनुचर और संभवतः उसी के संसर्ग से कुटिल समुद्रदत्त अपने आचार्य की तरह दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ नहीं है। महाराज बिंबसार को बंदी बनाने का प्रस्ताव वह इतने भोंड़े ढंग से करता है कि परिषद् के सदस्य 'अनर्थ है,' 'अन्याय है' कहकर उसका विरोध करते हैं। यदि देवदत्त ने स्थिति सम्हाल न ली होती तो समस्या कुछ कठिन हो जाती। काशी में षड्यंत्र करने की इच्छा से आया हुआ समुद्रदत्त दो-चार अंतरंग मित्र बनाने की आशा से जब वार-विलासिनी श्यामा के प्रस्ताव से सहमत होकर दंडनायक के पास जाने की मूर्खता दिखाता है, तब उसकी कुटिलता और कुसंग-का फल उसे मृत्यु-रूप में प्राप्त होता है। कुमंत्रणा और कुटेव का यह अंत संभवतः सभी को स्वाभाविक और सामाजिक शांतिदायक जान पड़ेगा।

---

## उदयन

कौशांबी-सम्राट् उदयन साधारण श्रेणी का रसिक शासक है। दो विवाह करने के बाद वह मागंधी के रूप पर मुग्ध होकर इस दरिद्र-कन्या से विवाह करता है। मझली रानी पद्मावती के मंदिर में 'गौतम का जो संघ निर्मित होता है' उसमें उपस्थित होकर वह गौतम के सुनने योग्य उपदेशों से प्रभावित तो यहाँ तक हुआ कि उनसे कौशांबी में धर्म-प्रचार करने का अनुरोध करने लगता है, परंतु मदिरापान-निषेध की उनकी शिक्षा मागंधी के सामने जाते ही भूल जाता है। हृदय को हाला से तृप्त होते ही रूपवती मागंधी के जरा से संकेत पर वह पद्मावती और गौतम के प्रति शंकित होकर उसके 'पाखंडपूर्ण आचरण' का प्रतिशोध लेने को प्रस्तुत हो जाता है। झरोखे से करुणानिधान गौतम के दर्शन करती हुई पद्मावती को पाकर उसके संदेह की पुष्टि होती है और वह विचारहीन शासक आवेश में उसकी हत्या करने को तलवार खींच लेता है। अंत में उस सती के सामने इसे नीचा देखना पड़ता है।

---

## पद्मावती

निष्ठुर अजातशत्रु की कोमल हृदयवाली यह ऐसी बहन है जो उसे अपने 'सुखों की आशा' समझती है और निरीह जीवों के अभिशापों से बचाकर अच्छी बातें सिखाना चाहती है। उसका आदर्श है 'मानवी सृष्टि करुणा के लिए'। हिंसा-मूलक क्रूर कर्मों से बचने के लिए वह 'राजा होने से मनुष्य होना' अच्छा समझती है। करुणानिधान महात्मा गौतम पर उसकी अपार श्रद्धा है और इसी को लेकर ईर्ष्याग्नि में जलती

हुई मागंधी राजा उदयन के सामने उसे 'दुराचारिणी' सिद्ध कर देती है। पति कान का इतना कच्चा है कि इसे सत्य मानकर उसे मारने को तैयार हो जाता है। हिंदू-स्त्री पद्मावती इसे सहर्ष स्वीकारती है; परंतु उस सती के तेज के सामने अंततः उदयन हार मानता है। प्रसादजी ने पद्मावती के चरित्र-द्वारा इस प्रकार भारतीय पातिव्रत धर्म की अपार महिमा की ओर स्पष्ट और चमत्कारपूर्ण संकेत किया है।

## कला की कसौटी पर

**ऐतिहासिक आधार**—ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते समय 'प्रसाद' जी ने इतिहास के मूल सत्य की सर्वदा रक्षा की है; परंतु अनेक स्थलों पर उन्हें अपनी बुद्धि का सदुपयोग दो कारणों से करना पड़ा है। पहली बात है एक ही विषय का भिन्न मतावलंबी ग्रंथों में नितांत भिन्नता के साथ लिखा जाना। ऐसे स्थलों पर 'प्रसाद'जी को सबकी आलोचना करके प्रक्षिप्त और अतिरंजित अंश काट-छाँट कर इतिहास की मूल प्रवृत्ति का पता लगाना पड़ा है। दूसरी बात यह कि प्रत्येक कथा और जीवनगाथा का अधिकांश प्रमाणों के अभाव में अभी तक अंधकार के गर्त में है और संभवतः इन अवकाशों (*Gaps*) की पूर्त्ति कल्पना द्वारा ही की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि दोनों ही स्थलों पर नाटककार के लिए निजी कल्पना का उपयोग आवश्यक था।

इस प्रसंग में कथा-संगठन के उद्देश्य से 'प्रसाद' जी को दो प्रकार के परिवर्तन और भी करने पड़े हैं। एक, मूल कथा से कुछ प्रासंगिक वृत्त संबंधित करके उसे अधिक प्रभावोत्पादक,

स्वाभाविक और नाटकीय चमत्कार के लिए उपयोगी बना दिया है। दूसरे, कुछ नये पात्रों की सृष्टि करके अथवा भिन्न पात्रों को एक ही मान लिया गया है। उदाहरण के लिए मागंधी और श्यामा, शैलेन्द्र और विरुद्धक, जिनका तत्कालीन धर्म-ग्रंथों में स्वतंत्र रूप से उल्लेख मिलता है, 'अजातशत्रु' में एक ही हैं।

सारांश यह कि 'प्रसादजी' का यह ऐतिहासिक नाटक ऐसा है जिसकी प्रायः सारी सामग्री और लगभग सभी पात्र-पात्रियों का उल्लेख किसी-न-किसी रूप में प्राचीन इतिहास अथवा धर्म-ग्रंथों में मिलता है। उस काल के सभी लेखकों ने एक ही घटना और पात्र के चरित्र का परिचय अपनी रुचि, आदर्श और सिद्धांत की पुष्टि के उद्देश्य से घटा-बढ़ा कर दिया है। फलस्वरूप भिन्न ग्रंथों में वर्णित एक ही घटना किसी ग्रंथ में संक्षेप में मिलती है तो किसी में विस्तार से और कभी-कभी तो भिन्न लेखकों के कथनों में बिलकुल विरोध ही मिलता है। यही बात पात्रों के चरित्र के संबंध में भी सत्य है। बौद्ध ग्रंथों में बौद्ध शासकों की प्रशंसा है, शेष की निंदा; इसी तरह जैन, ब्राह्मण आदि धर्मों के पोषकों की स्थिति समझिए। इस प्रकार बिखरी और जटिल सामग्री से 'प्रसादजी' ने कुशलतापूर्वक कथा का संगठन करके पात्रों का सजीव चित्रण किया है। बिंबसार-अजात, प्रसेनजित-विरुद्धक, बुद्ध-देवदत्त, उदयन-पद्मावती आदि के संघर्ष की कहानियाँ इतिहास में मिलती हैं। 'प्रसाद'जी ने इन्हें आगे-पीछे करके सबके घटने का एक ही समय मान लिया है। शुद्ध इतिहास की दृष्टि से यह उचित और सत्य नहीं; परंतु नाटककार को इतनी स्वतंत्रता रहती है और इसका उपयोग करके कथा वह जितनी ही

सुगठित बना लेता है, वह उतना ही सफल समझा जाता है।

**प्रधान कार्य**—प्रस्तुत नाटक का प्रधान कार्य सुख-शांति की स्थापना है, जिसकी व्याख्या महारानी वासवी ने इन पंक्तियों में की है—

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हो मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
बंधु-वर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर,
शांति पूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ?

अधिकार-लिप्सा और असत्य गर्व इस सुख-शांति के मार्ग की बाधायें हैं। छलना राजमाता होने के गर्व में है और अजातशत्रु राज्याधिकार प्राप्त करने की चिन्ता में। परिणाम यह होता है कि विम्बसार, वासवी और पद्मावती के ये दोनों वैरी हो जाते हैं और महाराज की शांति, राजपरिवार का सुख संकट में पड़ जाता है।

कोशल-राज-परिवार में इस कथा की आवृत्ति होती है। पिता के प्रति किये गये अजातशत्रु के व्यवहार को कोशल का राजकुमार विरुद्धक अनुचित नहीं समझता; उसका समर्थन करता है। यह दुर्विनीत व्यवहार महाराज को असह्य है; उत्तेजित होकर आवेश-भरे स्वर में वे उसे देश-निकाले का और उसकी माता शक्तिमती का सम्मान राजमहिषी-सा न करने का आदेश देते हैं। अपमानित और तिरस्कृत होने पर विरुद्धक और शक्तिमती का प्रतिकार के लिए प्रस्तुत होना स्वाभाविक ही है जिससे कोशल-राजपरिवार में अशांति होनी ही चाहिए।

कोशल की कहानी बिलकुल मगध की तरह है; परंतु कौशांबी में राजपारिवारिक अशांति का कारण इससे भिन्न है।

वहाँ का मद्यप और विलासी शासक उदयन नई रानी मागंधी के रूप पर अत्यंत मुग्ध होकर बुद्धिहीन हो, छोटी रानी पद्मावती को कुटिल समझने लगता और उसे इसका दंड देने के लिए प्रस्तुत होता है।

मगध, कोशल और कौशांबी तीनों राजपरिवारों में इस प्रकार अशांति का बीज जमता है। असत्य गर्व, अशिष्ट व्यवहार और बुद्धिहीनता इसके कारण हैं। आरंभ में मगध और कोशल की अशांतिकारिणी शक्तियों को अपने प्रयत्न में, विरोधी दल को झुकाकर, दबाकर अपने पथ से हटा देने में, थोड़ी सफलता मिलती है जिससे वे उत्साहित होते हैं; परंतु अंत में उन्हें नीचा देखना पड़ता है और शांति के समर्थकों से अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगनी होती है। पश्चात् सभी राजपरिवारों में हर्षोन्माद छा जाता है; उत्सव होने लगते हैं। असत्य गर्व और अशिष्टता के नष्ट होने पर इस प्रकार नाटक के कार्य की सिद्धि होती है।

**कार्य की अवस्थाएँ**—केवल तीन अंकों के इस नाटक की संघर्ष-प्रधानता के कारण कार्य की अवस्थाएँ विशेष स्पष्टता से सामने नहीं आ सकी हैं। संक्षेप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि प्रथम अंक में विरोध का सूत्रपात होता है; अजातशत्रु राज्याधिकार हाथ में लेकर अपनी शक्ति संगठित करता है और काशी-प्रांत पर अधिकार करने के लिए प्रस्तुत होता है। इधर कोशल का निर्वासित राजकुमार भी पिता से बदला लेने के उद्देश्य से काशी आ जाता है।

दूसरे अंक के आरम्भ में विद्रोही सफल होते हैं। अजातशत्रु कोशल की सेना को पराजित करता है। विरुद्धक कोशल-सेनापति की छल से हत्या करने में सफल होकर,

अजातशत्रु की शक्ति बढ़ाने के लिए उससे आ मिलता है। विरोधियों की शक्ति अब पूर्णतः संगठित है, परंतु कोशल और कौशांबी की सम्मिलित सेना से वे युद्ध में पराजित होते हैं। अजातशत्रु बंदी हो जाता है और विरोधी एक दूसरे को हार का कारण बताते-बताते आपस में वे लड़ने लगते हैं। इस प्रकार उनकी शक्ति नष्ट होती है; वे नीचा देखते हैं।

तीसरे अंक में गौतम और मल्लिका के सुप्रयत्न से कोशल और मगध, दोनों राज्यों में शांति होती है। कोशलकुमारी वाजिरा का विवाह अजातशत्रु से हो जाने के कारण युद्ध-विग्रह का संकट उस समय ही नहीं, कुछ समय के लिए टल जाता है।

**कथानक की संघर्ष-प्रधानता**—यह नाटक संघर्ष-प्रधान है। युवकों और बूढ़ों में एक ओर द्वंद्व हो रहा है तो प्राचीनता और नवीनता में दूसरी ओर। युवक अपने अधिकारों के लिए चिंतित हैं, बूढ़े उनके प्रयत्न को दुस्साहस और धृष्टता समझते हैं। प्राचीनता की लीक पीटनेवालों का दल सामने आता है तो उनके विरोधी नवीनता के उपासक भी मौजूद मिलते हैं। पाश्चात्य और पूर्वीय सामाजिक तथा लौकिक आदर्शों के द्वंद्व की झलक भी नाटककार ने यहाँ बड़ी कुशलता से संकेत रूप में दिखाई है।

पारिवारिक संघर्ष से नाटक का आरंभ होता है। अजातशत्रु की क्रूरता का विरोध पद्मावती करती है, तभी छलना आकर उसे डाँट देती है और आवेश में वासवी को भी बुरा-भला कह जाती है। पश्चात् क्षुब्ध होकर सम्राट् बिंबसार से वह पुत्र के लिए राज्याधिकार प्राप्त करती है। इस कांड की चर्चा प्रसेनजित के यहाँ होती है। विरुद्धक इसमें कुछ अनु-

चित नहीं समझता और पिता से शासन-सूत्र हाथ में लेनेवाले अजातशत्रु के कार्य का समर्थन करता है। पुत्र की यह क्षुद्रता महाराज प्रसेनजित को उत्तेजित करती है और वह उसे देश-निर्वासन का दंड देते हैं।

कौशांबी में सपत्नी-डाह से प्रेरित होकर मागंधी अपने पर अनुरक्त महाराज उद्यन के कान पद्मावती के विरुद्ध भरती है। यह विचारहीन, मद्यप और विलासी शासक इसे सत्य समझ, पद्मावती के चरित्र पर संदेह करके उसे दंड देने का निश्चय करता है।

इस तरह तीनों स्थानों में संघर्ष की आग लगती है। कौशांबी में तो मागंधी के महल में आग लग जाने से शीघ्र ही और बड़ी सरलता से षड्यंत्र खुल जाता है और उद्यन को अपनी शीघ्रता पर लज्जित होना पड़ता है; परंतु मगध और कौशल की विद्रोहाग्नि युद्ध में भीषण रक्त-प्रवाह से शांत होती है। तीसरे अंक में विद्रोही अपने क्षुद्र कार्यों के लिए लज्जित होते और क्षमा माँगते हैं। इस प्रकार संघर्ष का अंत करके नाटक समाप्त होता है।

मूल कथा के क्षेत्र से बाहर गौतम और देवदत्त के बीच धार्मिक महत्ता का प्रश्न लेकर एक और एकांगी संघर्ष चलता है, जिसका घनिष्ठ संबंध मगध की गृह-कलह से नाटककार ने स्थापित कर दिया है। महात्मा गौतम के प्रतिद्वंद्वी देवदत्त का मगध की छोटी रानी छलना बराबर सम्मान करती है और अजातशत्रु ने अपनी परिषद् में उसे ले लिया है। युद्ध की भयंकरता से भयभीत होकर अजातशत्रु जब उससे विमुख होना चाहता है तब गौतम से बदला लेने का अवसर जाते देख, देवदत्त उसे उत्तेजित करके एक बार पुनः युद्ध के

लिए प्रस्तुत करता है। मगध में गौतम का प्रभुत्व बढ़ने न देने की इच्छा से यह उन्हें मार डालने की भी चेष्टा करता है; परंतु अंत में, सरोवर में प्राण खोकर स्वयं ही इस संघर्ष का अंत कर देता है।

**सुखांत या दुखांत**—नाटक के सुखांत होने की पहचान केवल फल प्राप्ति या कार्य सिद्धि अथवा दुखांत होने का लक्षण किसी प्रधान पात्र की मृत्युमात्र मानना उचित नहीं है। कार्य-सिद्धि के पश्चात् भी नाटक दुखांत और मृत्यु के पश्चात् भी सुखांत हो सकते हैं। द्वितीय कथन का प्रमाण प्रसादजी का यह नाटक है। बहुत समय के बिछुड़े दुर्विनीत पुत्र और पत्नी को क्षमाप्रार्थी के रूप में सामने पाकर उन्हें हृदय से क्षमा करके मगध का वृद्ध सम्राट् बिंबसार सुख-शांतिमय गृहस्थी की कल्पना में जब मग्न हो रहा है तभी उसे पौत्र जन्म का अत्यंत सुखद समाचार मिलता है। वृद्ध हृदय एक बार ही हर्ष से नाच उठता है; परन्तु इतना सुख उससे सम्हाला नहीं जाता; हर्षातिरेक से वह लड़खड़ाकर गिर पड़ता है। दर्शक इस समय परिवारिक सुख-शांति के लिए लालायित इस वृद्ध के हर्ष को देखकर स्वयं प्रसन्नता के आँसू बहा रहे हैं; उनका दिल भी खिल रहा है। सम्राट् बिंबसार के गिरने पर एक बार वे चौंकते तो अवश्य हैं; परन्तु तत्काल यवनिकापतन होते ही उनका मन सहर्ष मिलन के सुख की बात सोचने लगता है। अतः स्पष्ट है कि मारणांत होने पर भी 'अजातशत्रु' प्रसादांत नाटक है।

**नायक कौन**—नाटक के सभी पुरुष-पात्रों में केवल दो, अजातशत्रु और विरुद्धक ही ऐसे हैं जिनमें से एक को इस

पद के लिए चुना जा सकता है। अजातशत्रु से विरुद्धक का अधिकार इसलिए अधिक है कि इसका चरित्र अपेक्षाकृत दृढ़ और व्यक्तित्व विशेष प्रभावोत्पादक है। देश से निर्वासित इस राजकुमार का उत्साह और साहस इतना अधिक है कि अकेले ही वह कोशल के विरुद्ध खड़ा होता है और साथ ही शाक्यों से बदला लेने की प्रतिज्ञा भी करता है। शैलेंद्र बनकर उसने सारे काशी-प्रांत को थर्रा दिया है। उसकी साधन-हीनता सफलता के मार्ग में बाधक है; अन्यथा उसने कोशल और कौशांबी की सम्मिलित सेनाओं पर विजय प्राप्त कर ली होती। परंतु नाटककार ने उसका परिचय इस ढंग से दिया है कि अजातशत्रु के न रहने पर उसके व्यक्तित्व से हमारे परिचित होने का कोई अवसर ही नहीं रह जाता और यही कारण है कि अस्थिर चित्त और अप्रधान चरित्र लेकर भी कथा को जन्म देने और उसके विकास में सहायक होनेवाला अजातशत्रु ही नाटक का नायक माना जाता है।

कदाचित् महात्मा गौतम को नायक मानने की किसी की इच्छा हो। समाधान यह होगा कि महान् व्यक्तित्व लेकर भी नाटक के संघर्ष से वे उदासीन हैं। यत्र-तत्र उनके शांतिप्रद दर्शन भर हम करते हैं; नाटक की क्रियाशीलता में उनका कोई हाथ, कोई सहयोग नहीं है। वे स्वयं 'तटस्थ' रहना चाहते हैं।

नाटक का नामकरण—नाटक का नामकरण किसी प्रमुख पात्र के नाम पर किया जाता है; परंतु अजातशत्रु इस नाटक का प्रमुख पात्र नहीं कहा जा सकता। वह राजपुत्र अवश्य है; फिर भी उसका न कोई चरित्र है और न व्यक्तित्व ही। वह छलना और देवदत्त के हाथ का खिलौना भर है और युद्ध की भीषणता से भयभीत होकर तो उसने अपनी दुर्बलता का

हीनतम परिचय ही दिया है। यह सब कुछ होते हुए भी लेखक ने नाटक को उसी के नाम पर केवल इसलिए रखा है कि कथा का केंद्र वही है। नाटक का आरंभ उसी की एक क्रीड़ा से होता है जिसके औचित्य-अनौचित्य का उसे कोई ज्ञान नहीं है। अंतिम दृश्य में भी वह ऐसे भावावेश में है कि संभवतः उसे अपनी स्थिति और कार्य का ज्ञान तक नहीं होता।

चरित्र की प्रौढ़ता और स्वतंत्र व्यक्तित्व की दृष्टि से छलना अथवा वासवी के नाम पर नाटक का नामकरण हो सकता था, और संभवतः यह उचित भी होता। कथा को जन्म देने में वासवी का हाथ भले ही न हो; परंतु उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र और आकर्षक अवश्य है तथा छलना की विरोधी प्रकृति ने उसका सौंदर्य और भी अधिक बढ़ा दिया है। कथा-विकास में उसका परोक्ष हाथ बराबर रहता है; क्योंकि सारा संघर्ष काशी के उस प्रांत को लेकर होता है, जिसकी आय वह पति के हाथ में लाना चाहती है। नाटक की शांतिपूर्ण समाप्ति का तो अधिकांश श्रेय उसी का है। फिर भी कदाचित् उसकी निष्क्रियता नाटक का नामकरण उसके नाम के आधार पर करने में बाधक जान पड़ती है।

जो हो, कथा के विकास में छलना का हाथ अजातशत्रु से भी अधिक है—अजात तो उसका खिलौना-मात्र है, जिसे वह प्यार करती है, सजा-सजाया सिंहासन पर बैठा देखना चाहती है। व्यक्तित्व भी उसका नाटक के किसी पात्र-पात्री से घटकर नहीं है। ऐसी दशा में नाटक का नामकरण उसके नाम पर किया जाता तो संभवतः अधिक उपयुक्त होता। हाँ, इसके लिए लेखक को अंतिम अंक में उसके चरित्र को अधिक सतर्कता से चित्रित करना पड़ता।

प्रासंगिक वार्ताएँ—लेखक के कुछ प्रिय विषय होते हैं, जिनके संबंध में अवसर पाकर अपने विचार प्रकट करने का लोभ वह संवरण नहीं कर पाता। कभी-कभी विशेष उद्देश्य से भी मूल कथा से भिन्न कुछ प्रासंगिक वार्ताएँ लेखक को बीच-बीच में लानी पड़ती हैं। 'प्रसाद' जी के प्रायः सभी नाटकों में दो-तीन दृश्यों की रचना ऐसे ही विषयों को लेकर की गई है जिनका न कथा-विकास में ही हाथ है और न वे स्थिति के बहुत अनुकूल ही जान पड़ती हैं। 'अजातशत्रु' में तीसरे अंक के चौथे दृश्य में स्त्री-पुरुष-प्रकृति को लेकर शक्तिमती और दीर्घकारायण में जो विवेचनात्मक वार्तालाप कराया गया है, वह वहाँ बहुत खपता नहीं और न दीर्घकारायण के मुख से वे बातें उचित ही जान पड़ती हैं। 'स्कंदगुप्त' में ब्राह्मण-श्रमण का तथा 'चंद्रगुप्त' में राक्षस-वररुचि का वाद-विवाद भी इसी कोटि में आता है। इन तथा ऐसे ही अन्य स्थलों को निकाल देने से संभवतः नाटक की कथा अधिक संगठित हो जाती।

धार्मिक आंदोलन—भारतीय इतिहास के जिस काल से इस नाटक का संबंध है, वह समय बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव का है। महात्मा गौतम के समकालीन शासक, जो इस नाटक के प्रमुख पात्र हैं, उनका आदर-सत्कार करते हैं। मगध और कोशल-सम्राट तो बौद्धधर्म के सच्चे अनुयायी के रूप में सामने आते हैं ही, कौशांबी-शासक उदयन भी उनके उपदेशों पर मुग्ध हैं, और कई दिन तक उनके सुनने योग्य व्याख्यान अपने यहाँ कराता है और अपनी रानी पद्मावती की सुविधा के लिए उसके महल में उसने नया झरोखा बनवा दिया है। परंतु मगध के वृद्ध सम्राट् बिंबसार महात्मा गौतम का जितना सत्कार करते हैं, उनकी छोटी रानी छलना अथवा उसका पुत्र

अजातशत्रु उन्हें उस दृष्टि से नहीं देखता। यही नहीं, वे तो गौतम के प्रतिद्वंद्वी देवदत्त के कहे में हैं और उसी के इशारे पर चलने में अपना कल्याण समझते हैं ; यहाँ तक कि गौतम के प्राण लेने की चेष्टा का भी वे कोई विरोध नहीं करते। बौद्धधर्म के इस प्रवर्तक के संबंध में जन-साधारण के विचार भी लेखक ने कई स्थलों पर व्यक्त कराएँ हैं। सारांश यह कि महात्मा गौतम का व्यक्तित्व, उनके धर्मप्रचार का रूप, उस कार्य का विरोध; जनता और सम्राटों की दृष्टि में उनका महत्त्व, एक शब्द में, बौद्धधर्म की तत्कालीन स्थिति से प्रस्तुत नाटक के लेखक ने बड़ी कुशलता से हमें परिचित कराया है।

**हास्य और विनोद**—प्रस्तुत नाटक में उदयन का विदूषक वसंतक पाठकों को हँसाने का प्रयत्न करके अपनी स्थिति सार्थक करना चाहता है। प्रथम अंक, छठे दृश्य में वसंतक की हँसोड़पन की बातें कुछ सार्थक हैं। यद्यपि उनमें पाठकों के दाँत चमकाने की क्षमता नहीं है—स्वयं लेखक यह नहीं चाहता कि पाठक इस स्थिति में हँसें—तथापि वातावरण के बीच में पाठक इन्हें सुनकर शांति की साँस अवश्य लेता है। हास्य के इस रूप की भी कभी-कभी जीवन में आवश्यकता होती है। इसी से नाटककार ने प्रत्येक अंक में एक बार पाठकों को उसके दर्शन करा दिए हैं। परंतु कार्य में असफल रहने से नाटक में विदूषक की आवश्यकता संकट में पड़ जाती; संभवतः इसीलिए नाटककार ने उसे थोड़ा दूत-कार्य सौंप दिया है। तीन अंकों के तीन दृश्यों में उसके साथ हम मगध के राजवैद्य जीवक को देखते हैं जिससे वसंतक कथा-विकास-सम्बंधी कुछ बातें कहकर पाठकों की जिज्ञासा-शांति का उपाय करता है। कथा-क्रम का परिचय देनेवाले उसके कथन ये हैं—

१. प्रथम अंक, छठे दृश्य में—बड़ी रानी वासवदत्ता पद्मावती को सहोदरा की तरह प्यार करती हैं। उनका कोई अनिष्ट नहीं होने पावेगा। उन्होंने ही मुझे भेजा है।

२. दूसरा अंक नवें दृश्य में—( क ) पद्मावतीदेवी ने कहा है—आर्य जीवक से कह देना कि अजात का कोई अनिष्ट न होने पावेगा; केवल शिक्षा के लिए यह आयोजन है।

( ख ) महाराज उदयन से ( प्रसेनजित की ) मंत्रणा ठीक हो गई है। आक्रमण हुआ ही चाहता है। महाराज बिंबसार की समुचित सेवा करने अब वहाँ हम लोग आया ही चाहते हैं।

३. तीसरा अंक छठे दृश्य में—कहाँ साधारण ग्राम्य बाला हो गई थी राजरानी! मैं देख आया—वही मागंधी ही तो है। अब आम की बारी लेकर बेचा करती है और लड़कों के ढेले खाया करती है।

सारांश यह कि दूत-कार्य कराकर लेखक ने विदूषक वसंतक की नाटक में अनावश्यकता का दोष मिटाने का प्रयत्न किया है।

'स्वगत' का प्रयोग—रंगमंच पर कुछ वर्ष पहले, जो नाटक खेले जाते थे, 'स्वगत' कहे गए अंशों की उनमें भरमार रहती थी। मंच के पात्र ऐसे अंशों को मूल से भिन्न स्वर में पाठकों को सुनाते-समझाते थे। आलोचकों ने अभिनय की दृष्टि से इन अंशों को अस्वाभाविक माना। उनका तर्क यह है कि जिन 'स्वगत' अंशों को पात्र-पात्री केवल दर्शकों को ही सुनाने के लिए उच्च स्वर में कहते हैं, यह कैसे संभव है कि उनको उन्हीं के पास खड़े अन्य पात्र न सुनें और उन पर कोई प्रभाव न पड़े। अतः 'स्वगत' अंशों को निर्लिप्त भाव से सुनकर अभिनय करते रहना अनुचित ठहराया गया। अपने

नाटकों को दोष-रहित बनाने के लोभ से नाटककारों ने धीरे-धीरे ऐसे अंशों को कम करना आरंभ किया। इधर के नाटकों में इनका प्रायः अभाव ही दिखाई देता है।

'स्वगत' अंशों को देने से लेखक का उद्देश्य पाठकों को अपने पात्र-पात्रियों के सच्चे विचारों से परिचित कराना होता है। मन, वचन और कर्म में एकता रखनेवाले व्यक्ति समाज में कदाचित् एक प्रतिशत से अधिक नहीं मिलेंगे। शेष निन्नानवे व्यक्तियों के मन में कुछ होगा, कहेंगे कुछ और करेंगे कुछ और। ऐसी दशा में व्यक्ति को ठीक-ठीक समझना सरल काम नहीं है। कर्म और वचन बाहरी चाल-चलन की बातें हैं। सामाजिक शिष्टाचार का पूरा-पूरा ध्यान रखकर ही हमें अपने मुख से वचन निकालने या काम करने पड़ते हैं। इसलिए यदि वचन और कर्म में एकता भी हो तो उसे प्रायः सामाजिक शिष्टाचार का फल ही समझना चाहिए।

परंतु मन में जब हम बात करते हैं तब विचारधारा पर सामाजिक बातों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता। समाज में रहते हुए भी मन में विचरण करते समय हम प्रायः स्वतंत्र रहते हैं। अतः मनुष्य को ठीक-ठीक तभी समझा जा सकता है जब उसके वचनों और कर्मों को शिष्टाचारी आवरण से मुक्त करके समझने की योग्यता हममें हो तथा हम यह विवेचना कर सकें कि इनमें कितना अंश शिष्टाचार का फल है और कितना हृदय के सच्चे भावों और अंतःकरण की सच्ची प्रवृत्तियों का। यह विवेचन-कार्य विशेष अध्ययन और अनुभव चाहता है। कदाचित् इसीलिए नाटकों में 'स्वगत' कथन द्वारा मन के सीधे-सादे भाव इस प्रकार व्यक्त कर दिए जाते थे कि उनसे व्यक्ति को भली भाँति समझा जा सके। इसमें संदेह

नहीं कि मूलतः यह उद्देश्य उचित और साहित्योपयोगी ही था।

आज के नाटकों को अभिनय-कला की दृष्टि से स्वाभाविक बनाने के लिए आलोचकों ने जब उक्त दोष के कारण 'स्वगत' भाग को अनुचित ठहराया, तब वे भी इसकी उपयोगिता नहीं भूले थे। उनका उद्देश्य यह था कि जिन मानसिक विचारों को 'स्वगत' के अंतर्गत देकर हम पात्र-पात्रियों के चरित्र का परिचय देते हैं, उन्हीं के प्रभाव-स्वरूप उनकी भावभंगी, शारीरिक चेष्टा और कार्यों को दिखाकर संकेतरूप में काम निकाला जाय तो यह ढंग अत्यंत रोचक, कलापूर्ण और साहित्योचित होगा। साहित्य का उद्देश्य मानसिक विकास करना भी है। 'स्वगत' का इस नए रूप में प्रयोग करने से नाटक-साहित्य के इस उद्देश्य को पूर्ण करने में सहायक हो सकेंगे और निस्संदेह पाठकों के हाव-भाव, कार्य कलाप आदि का विश्लेषण करके व्यक्ति को समझने का प्रयत्न अत्यंत रोचक और मानसिक विकास का सहायक सिद्ध होगा। हर्ष है कि आधुनिक नाटककारों ने इस बात को समझा और तदनुसार रचना करना आरंभ किया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह केवल ऐसे 'स्वगत' अंशों के लिए है जो मंच पर आये पात्रों के सामने रहने पर कुछ ऐसे वाक्य कहते हैं जिनसे उनके हार्दिक विचार तो प्रकट होते हैं; परंतु जिन्हें वे निकट खड़े हुए पात्रों से नहीं कहते और न चाहते ही हैं कि वे उन्हें सुन-समझ लें। 'अजातशत्रु' में ऐसे स्थल थोड़े ही हैं; केवल छलना, जीवक, प्रसेनजित और समुद्रदत्त आदि ने दो-एक स्थलों पर एक आध ऐसे वाक्य कहे हैं। प्रयत्न करने पर अधिक कलापूर्ण ढंग से इनसे छुटकारा मिल सकता था; इसलिए ये व्यर्थ ही हैं।

एक प्रकार के 'स्वगत' और हैं जो हमें प्रायः प्रत्येक दृश्य के आदि और अंत में मिलते हैं। ऐसे अंश उन अवसरों पर कहे गए हैं जब मंच पर दूसरा पात्र नहीं होता और इस लिए इन्हें अस्वाभाविक नहीं कह सकते ; दूसरे, पात्र-पात्रियों की विचारधारा का इनसे परिचय भी मिलता है। परंतु इस प्रकार के 'स्वगत' प्रस्तुत नाटक में कहीं-कहीं बहुत लंबे हो गए हैं और कुछ में तो एक बात दोहरायी गई है। दार्शनिक विचारधारा के फलस्वरूप और कभी-कभी भावपूर्ण गद्यकाव्य की दृष्टि से इन 'स्वगत' भाषणों का जो भी मूल्य हो, परंतु इसमें संदेह नहीं कि अभिनय के विचार से ऐसे लंबे स्थल दर्शकों को उबा देनेवाले होते हैं। इनमें अधिकांश ऐसे हैं जो अपना उद्देश्य भी सिद्ध नहीं कर पाते और जिनसे सरलता से छुटकारा मिल सकता थ ।

**कथा-विकास और उत्सुकता**— नाटक की कथा का क्रमिक संगठन इस ढंग पर होना चाहिए कि पाठकों की उत्सुकता निरंतर बढ़ती रहे। इसके लिए ढंग यह भी है कि आगे आनेवाली घटनाओं की सूचना संकेत रूप में पाठकों को बराबर मिलती रहे। ये संकेत न तो इतने स्पष्ट ही होने चाहिए कि र्शकों को आगे की घटना का स्पष्ट आभास मिल जाय और न इतने अस्पष्ट ही कि वे उनकी ओर ध्यान ही न दे सकें। प्रसादजी ने स्थान-स्थान पर कुशलता से पाठकों की उत्सुकता बढ़ाने के लिए इस उपाय से काम लिया है। 'स्कंदगुप्त' के प्रथम अंक, दूसरे दृश्य में, धातुसेन के ये तीन कथन—( १ ) स्त्री की मंत्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है ; इसलिए ( तारा के मंत्रित्व से बालि को ) सदा के लिए राज्य के झंझटों से छुट्टी मिल गई। ( २ ) चाणक्य

ने लिखा है, राजपुत्र भेड़िए हैं ; इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए ( ३ ) उस ब्राह्मण को लिखना चाहिए था कि राजा लोग विवाह ही न करें, क्यों भेड़ियों-सी संतान उत्पन्न हो—अनंतदेवी के इशारे पर नाचते हुए महाराज कुमारगुप्त और पिता के प्रति भेड़िये की संतान का-सा व्यवहार करनेवाले पुरगुप्त के संबंध में सत्य सिद्ध होते हैं, तब हमें नाटककार की कुशलता पर साश्चर्य प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार देवकी की हत्या के षड्यंत्र की बात सुनकर जब पाठक चिंतित हो जाते हैं तब नाटककार ने स्कंदगुप्त के आ जाने की सूचना देकर उन्हें चिंता से मुक्त कर दिया है।

आशय यह कि पाठकों की उत्सुकता की शांति तीन-चार दृश्यों के पश्चात् अथवा कभी-कभी दूसरे दृश्य में ही कर देना 'प्रसाद' जी का नियम रहा है। प्रथम अंक, पाँचवें दृश्य में रानी पद्मावती से उदयन के नाराज होने की सूचना मिलती है और वह मागंधी के उत्तेजित करने पर प्रतिशोध के लिए तैयार हो जाता है। पाठकों के मन में स्वभावतः प्रतिशोध का स्वरूप जानने की इच्छा होती है। दूसरे ही दृश्य में जीवक हमें सब बातें बतला देता है। इसी अंक के सातवें दृश्य में राजकुमार विरुद्धक युवराज-पद से वंचित किया जाता है और उसकी माता का सम्मान राजमहिषी की तरह न करने की महाराज आज्ञा देते हैं। तभी पाठक के मन में निर्वासित और तिरस्कृत परंतु निर्भीक राजकुमार के विचार और उसकी माता के व्यक्तित्व से परिचित होने की उत्सुकता होती है। दूसरे ही दृश्य में हमारी इस जिज्ञासा की शांति का प्रबंध लेखक कर देता है।

रस—भारतीय नाटक-रचना-प्रणाली में सबसे प्रधान तत्त्व

रस माना गया है। अन्य तत्त्वों की सार्थकता यही है कि वे रस की पूर्ण निष्पत्ति में सहायक हों। विरोध, संघर्ष और युद्ध-प्रधान नाटक में केवल वीर रस की प्रधानता हो सकती है और यही 'अजातशत्रु' का प्रधान रस माना जा सकता है। साथ ही महाराज बिंबसार की दार्शनिकता, महात्मा गौतम की शांति-प्रद शिक्षा, और मल्लिकादेवी की क्षमाशीलता से शांत रस भी अवसर पाते ही अपनी झलक दिखा जाता है। सारांश यह कि वीर और शांत रसों की दो धाराएँ नाटक में कथा की प्रगति के साथ चलती हैं और अंत तक पहुँचते-पहुँचते संघर्ष के समाप्त होने पर प्रथम की अप्रधानता और द्वितीय की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है।

---

## नाटक के गीत

काव्यानंद को ब्रह्मानंद-सहोदर माननेवाले भारतीयों की सभी कला-कृतियों में काव्य का सुंदर समावेश रहना स्वाभाविक ही समझा जाना चाहिए। नृत्य और संगीत में उन्नति भी हमने इतनी कर ली थी कि मनोरंजन के प्रधान साधनों से उनका निकटतम संबंध आवश्यक एवं वांछनीय था। अनुकरण द्वारा जन-रंजन के उद्देश्य से नाटक रचने एवं खेलने को जब भारतीय साहित्य-कार प्रवृत्त हुए तब काव्य-रुचि की अधिकता एवं संगीतकला-प्रेम ने उनमें गीतों का समावेश करा दिया। यही कारण है कि सभी प्राचीन नाटकों में सुंदर कविता के दर्शन होते हैं। आगे चलकर यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि नाटकीय कथोप-कथन का अधिकांश पद्य में रहने लगा। इस वर्ग के कुछ कवियों ने तो पूरे के पूरे नाट्य ग्रंथ कविता में लिख डाले हैं।

हिंदी-नाटक-रचना में प्रवृत्त होनेवाले साहित्य-सेवियों ने संस्कृत-परिपाटी की देखा-देखी आरंभ से ही अपनी कृतियों को कविता से लाद रखा था। इसी समय बँगला और अँगरेज़ी नाटकों से हमारा परिचय होता है। पाश्चात्य देशों की भी आदि नाट्य रचनाओं में कविता का यथेष्ट प्रभाव रहा; परंतु मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता का आदर्श सामने रखकर ज्यों-ज्यों उनका समालोचना-साहित्य उन्नति करता गया, नाटक से कविता का बहिष्कार करनेवालों की आवाज़ त्यों-त्यों ऊँची होती गई। वस्तुतः नाटकीय पात्रों का पद्य में बातचीत करना, अथवा बीच-बीच में कविता पढ़ते चलना है भी अस्वाभाविक और अनुपयुक्त। पाश्चात्य आलोचकों का यही प्रधान तर्क था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर जयशंकरप्रसाद के प्रादुर्भाव तक जितने नाटक हिंदी में रचे गये सबमें जब-तब गीत गाये गये हैं। बँगला और अँगरेज़ी नाटककारों की कविता के प्रति इस प्रकार की रुचि का अभाव देखकर हिंदी के आलोचकों ने इस प्रवृत्ति का विरोध आरंभ किया। नाटककार भी धीरे-धीरे स्वाभाविकता का महत्त्व समझने लगे। हिंदी के प्रारंभिक नाटककारों की कृतियों से आज के सेवियों की रचनाओं का इसी दृष्टि से मिलान करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

प्रसादजी की आरंभिक रचनाओं में कविताओं की संख्या अधिक थी। स्वयं कुशल कवि होने के कारण काव्य का पूर्णतः बहिष्कार करना तो उनके लिए संभव था नहीं; केवल अनावश्यक स्थलों पर ही उन्होंने उनका प्रयोग रोक दिया। दूसरी बात उन्होंने इस संबंध में यह की कि रचना में प्रयुक्त गीतों को स्थिति अथवा पात्र की दृष्टि से स्वाभाविक बना-

दिया। उनके प्रायः सभी नाटकों में दार्शनिक, कविता अथवा संगीत-प्रेमी दो-एक पात्र-पात्रियाँ अवश्य हैं जो अपने गीतों के लिए आवश्यक वातावरण की सृष्टि करके उन्हें स्वाभाविक बना लेती हैं।

'अजातशत्रु' में 'प्रसाद' जी की छोटी-बड़ी बीस कविताएँ हैं। स्थिति की स्वाभाविकता की दृष्टि से ये निम्नलिखित वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं।

१. नर्तकियों के गीत—चार। यों तो इस नाटक में नर्तकियों का गीत केवल एक है जो उदयन के सामने उन्होंने गाया है; परंतु मागंधी का एक और श्यामा के दो गीत भी हम इसी कोटि में रख सकते हैं जो उन्होंने क्रमशः उदयन, विरुद्धक और समुद्रदत्त की प्रसन्नता के लिए गाये हैं।

२. एकांत में कवि अथवा किसी पात्र-पात्री द्वारा गाये गये गीत जो भावावेश में, हृदय के उद्‌गार व्यक्त करने को गाये जाते हैं - छः। इनमें मागंधी के गीत दो हैं; शेष चार में पद्मावती, वाजिरा, विरुद्धक और श्यामा ने अपने हृदय की वेदना व्यक्त की है।

३. ईशं-प्रार्थनाएँ—तीन। पहली प्रार्थना गाते हुए भिक्षुक करते हैं और शेष दो वासवी और मल्लिका एकांत में करती हैं।

४. करुणा, वासना, प्रेम आदि का रहस्य समझानेवाले गीत—पाँच। प्रथम दो महात्मा गौतम ने गाये हैं; एक में उन्होंने करुणा की महत्ता समझाई है और दूसरे का विषय सृष्टि की चंचलता है। तीसरा गीत उदयन मस्त और मुग्ध होकर मागंधी की प्रशंसा में गाता है। शेष दो वासना में लीन मदिरा-पान करती हुई श्यामा प्रिय शैलेंद्र को सुनाती है।

५. नेपथ्य से विषय के अनुकूल शांति-संदेश-ग्राहक अथवा

दार्शनिक भावयुक्त गीत—एक। नाटक के अंतिम दृश्य में महाराज बिंबसार के लिए गाया गया है।

६. शेष—एक। नाटक के प्रथम दृश्य में सुखी परिवार का संक्षिप्त चित्र खींचती हुई चार पंक्तियों की साधारण कविता वासवी ने कही है।

विषय की दृष्टि से 'अजातशत्रु' के गीत साधारण रूप से तीन भागों में रखे जा सकते हैं—

१. दार्शनिक विवेचना-प्रधान गीत—प्रसादजी को दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयों से बड़ी रुचि थी और तत्संबंधी अध्ययन भी उनका पर्याप्त था। यही कारण है कि अनेक सुंदर गीतों में तो दार्शनिकता की सुंदर छाप है। भावों की कोमलता के कारण ये गीत विशेष प्रिय हैं।

२. प्रेम, वेदना, वासना, सौंदर्यासक्ति आदि मनोभावों और वृत्तियों की व्याख्या करनेवाले गीत। 'अजातशत्रु' में ऐसे गीतों की संख्या सबसे अधिक है।

३. ईश-प्रार्थनाएँ—महात्मा गौतम, देवी मल्लिका के गीत शांतिप्रद और संतोष देनेवाले हैं।

नाटकीय स्वाभाविकता की दृष्टि से कई गीत विशेष आवश्यक नहीं प्रतीत होते और उनके अभाव में अभिनय का कार्य आसानी से चल सकता है। परंतु नाटककार स्वयं इतनी कविताएँ रखने के पक्ष में है। इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण में कविताओं की संख्या और अधिक थी। कुछ गीत लेखक ने स्वयं आगे के संस्करणों में कम कर दिए। वर्तमान गीतों में तीन-चार भावपूर्ण और सुंदर हैं। साधु-संन्यासी और वारविलासिनी के रहने से गीतों की संख्या इस नाटक में बढ़ गई है और इन पात्र-पात्रियों के संबंध ने उनकी अस्व.

कता का प्रश्न पीछे हटा दिया है। फलतः पाठकों को इन गीतों का आनंद ही उठाना चाहिए।